मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 123 ● वर्ष 13, अंक 8 ● अक्टूबर 2023 ● दस रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

छह राज्यों की सात वि.स. सीटों पर उपचुनाव के नतीजे और उनके मायने 5

गोदी मीडिया की गलाफाड़ू चीख-पुकार, यानी चुनाव नज़दीक आ गये हैं! 6

ब्रिक्स और जी-20 शिखर सम्मेलनों में साम्राज्यवाद के बदलते समीकरणों की अनुगूँजें 7

जनता के जनवादी अधिकारों पर आक्रामक होता फ़ासीवादी मोदी सरकार का हमला और इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

विशेष सम्पादकीय अग्रलेख

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनावों की सरगर्मियाँ जैसे-जैसे तेज़ हो रही हैं, वैसे-वैसे भाजपा और मोदी सरकार की घबराहट बढ़ रही है। पत्रकारों से लेकर बुर्जुआ विपक्षी पार्टियों के नेताओं पर मोदी सरकार के बढ़ते आक्रामक हमले इसी बात का लक्षण हैं। राष्ट्रीय स्वयंसवेक संघ के सूत्रों से भाजपा के नेतृत्व को पता है कि उसकी स्थिति इन पाँचों राज्यों में बहुत अच्छी नहीं है।

मध्यप्रदेश में भाजपा की स्थिति बेहद ख़राब है। छत्तीसगढ़ में भी भाजपा जीत को लेकर आश्वस्त नहीं है। राजस्थान में अशोक गहलोत और सचिन पायलट के बीच जारी गृहयुद्ध पर कम-से-कम अस्थायी रूप में विराम लग गया है, जबकि वसुन्धरा राजे राजस्थान में भाजपा की दिक्कतें लगातार बढ़ा रही है। लेकिन राजस्थान हर बार सरकार बदलने के लिए जाना जाने वाला राज्य है। इसलिए भाजपा को यहाँ अपेक्षाकृत ज़्यादा उम्मीदें हैं। तेलंगाना में भारत राष्ट्र समिति (बीआरएस, जो पहले तेलंगाना राष्ट्र समिति थी) कांग्रेस द्वारा बढ़ती चुनौती के बावजूद अभी भी अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में है। लेकिन लोकसभा चुनावों में उसके भाजपा के साथ जाने की कम उम्मीद है। इसलिए राज्य में उसकी जीत भी भाजपा के लिए कोई सौग़ात होगी इसकी उम्मीद कम है। आन्ध्र प्रदेश और तेलंगाना, यानी दो तेलुगूभाषी राज्यों की राज्यस्तरीय पूँजीवादी चुनावी राजनीति की ख़ास बात है सबसे खुले और बेशर्म किस्म का अवसरवाद। आन्ध्र प्रदेश में जगन मोहन रेड्डी की वाईएसआर कांग्रेस को फ़ायदा मिलने पर भाजपा के साथ जाने में कोई दिक्कत नहीं है। कुछ ऐसे मामले जगन और उसके सहयोगियों पर चल रहे हैं, जिनके कारण उसकी बाँह मरोड़ना अमित शाह के लिए आसान है। लेकिन अगर पसन्द की बात करें, तो आज कोई भी क्षेत्रीय दल अपनी इच्छा से भाजपा के साथ नहीं जाना चाहता है। सभी ने जद (यू), शिवसेना और आंशिक तौर पर लोजपा की हालत देखी है। अन्य कई छोटे राज्यों में भी जो भाजपा के साथ गठबन्धन में गया, उसकी पार्टी या तो टूट गयी और वह भाजपा का दल्ला या टट्टू बन गया, या फिर उसका राजनीतिक करियर ही ख़तरे में पड़ गया। इसलिए अगर देश पैमाने पर जगन और के. चन्द्रशेखर राव ज़रा भी हवा बदलती देखेंगे, तो वे भाजपा से सौदेबाज़ी या तालमेल के विकल्प को अपनाने के बजाय स्वतन्त्र रहना या बाहर से विपक्षी गठबन्धन को समर्थन देने का रास्ता अपनायेंगे। अब तक के घटनाक्रम से स्पष्ट है कि इन दोनों राज्यों की सत्ताधारी प्रमुख क्षेत्रीय पूँजीवादी पार्टियों ने अपने विकल्पों को खोलकर रखा है और अपने सारे पत्ते ये लोकसभा चुनावों के ठीक पहले ही खोलेंगे। मिज़ोरम में मुकाबला सीधे कांग्रेस और भाजपा-समर्थित मिज़ो नेशनल फ्रण्ट के बीच है, हालाँकि पिछले चुनावों में स्वतन्त्र उम्मीदवारों के साथ उतरी ज़ोरम पीपुल्स मूवमेण्ट कांग्रेस से एक सीट ज़्यादा जीतकर प्रमुख विपक्षी दल बन गया था। लेकिन इस बार स्थिति सम्भवत: वैसी न हो।

भाजपा को हार की आशंका क्यों सता रही है?

यह समझना बहुत ही आसान है। जिन राज्यों के बल पर भाजपा 2014 और 2019 में सत्ता में पहुँची उनमें ज़्यादा फ़र्क नहीं है। मूलत: दक्षिण के राज्यों में कर्नाटक को छोड़कर भाजपा को कहीं भी ज़्यादा सीटें नहीं मिलने

(पेज 8 पर जारी)

अगर न्याय नहीं है, तो शान्ति कैसे हो सकती है?

यह आतंकी हमला नहीं, बल्कि ज़ायनवादी इज़रायली औपनिवेशिक कब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी जनता का प्रतिरोध है

7 अक्टूबर की सुबह हमास के नेतृत्व में फ़िलिस्तीनी प्रतिरोध योद्धाओं द्वारा इज़रायल पर एक अभूतपूर्व हमला किया गया। इस हमले में अब तक 1300 से ज़्यादा इज़रायली मारे जा चुके हैं, हज़ारों घायल हैं और दर्जनों को फ़िलिस्तीनी योद्धाओं ने बन्दी बनाया है। जवाब में इज़रायल ने वही किया है, जो वह कर सकता है। उसके युद्धक विमान "दुनिया की सबसे बड़ी जेल" गाज़ा पर अन्धाधुन्ध बमबारी कर रहे हैं, जिसमें अब तक करीब 1800 फ़िलिस्तीनी मारे जा चुके हैं और यह संख्या लगातार बढ़ रही है। हमले के बाद इज़रायल के भीतर करीब 22 जगहों पर फ़िलिस्तीनी मुक्ति योद्धाओं और इज़रायली सशस्त्र बलों में मुठभेड़ हुई। इस तरह का कोई भी हमला फ़िलिस्तीन या गाज़ा की ओर से पहले नहीं हुआ है। इससे पहले हमेशा इज़रायल ने ही अपने हथियार बेचने के लिए अपने हथियारों की नुमाइश गाज़ा की बेगुनाह जनता पर की है, या गाज़ा की जनता को सामूहिक दण्ड के तौर पर अपने हत्यारे हमलों का निशाना बनाया है। 1970 के दशक में इज़रायल पर अरब हमले के बाद यह पहला मौका है, जब फलस्तीनियों ने यह दिखलाया है कि वह केवल इज़रायल के हमले का जवाब देने तक सीमित नहीं हैं बल्कि वह इज़रायल की ज़मीन पर युद्ध को ले जा सकते हैं। इस हमले ने इज़रायल की "अपराजेयता" और "अभेद्य सुरक्षा" के मिथक को भी धराशायी कर दिया है। इसके मनोवैज्ञानिक असर इज़रालियों के दिमाग़ से कभी नहीं मिटने वाले। दुनिया के सर्वाधिक उन्नत हथियारों, सर्विलांस तकनोलॉजी व आइरन डोम जैसी हवाई सुरक्षा प्रणाली के बावजूद, इंसानों की मुक्ति की चाहत भारी पड़ रही है।

ज़ाहिर है कि दुनिया भर के साम्राज्यवादी देशों, विशेषकर पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों ने इज़रायल पर हमले को "आतंकी हमला" बताकर उसकी निन्दा की है और इज़रायल के साथ एकजुटता ज़ाहिर की है। साथ ही, दुनिया भर के धुर दक्षिणपन्थी

(पेज 13 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

मैं पिछले दो साल से दिल्ली की एक वेल्डिंग कम्पनी में काम कर रहा हूं। मैंने इन दो सालों में ही यहाँ काम करने वाले मजदूरों की जो हालत देखी वह बहुत ही खराब है। छोटी कम्पनियों में मज़दूर हमेशा मालिक की नजरों के सामने होता है, मज़दूर एक काम खतम भी नहीं कर पाता है कि मालिक दूसरा काम बता देता है। मेरे इलाके में जितनी भी फैक्ट्रियाँ है उसमें अधिकतर प्रदूषण वाली फैक्ट्रियाँ हैं। सभी में धूल-मिट्टी हमेशा उड़ता रहता है। मैं जहाँ काम करता हूं उसमें केबल की रबर बनाने में पाउडर (मिट्टी) का इस्तेमाल होता है। मिट्टी इतनी सूखी और हल्की होती है कि हमेशा उड़ती रहती हहै। आँखों से उतना दिखाई तो नहीं देता लेकिन शाम को जब अपने शरीर की हालत देखते हैं तो पूरा शरीर और सिर मिट्टी से भरा होता है। नाक, मुंह के जरिये फेफड़ों तक जाता है। इस कारण मजदूरों को हमेशा टी.बी., कैंसर, पथरी जैसी गम्भीर बीमारियां होने का खतरा बना रहता है। जो पाउडर केबल के रबर के ऊपर लगाया जाता है उससे तो हाथ पर काला-काल हो जाता है। जलन एवं खुजली होती रहती है। इन सबसे सुरक्षा के लिए सरकार ने जो नियम बना रखे हैं वे पूरे दिखावटी हैं। नाक, मुंह ढंकने के लिए कपड़े देना, हाथों के लिए दस्ताने, शाम को छुट्टी के समय गुड़ देना आदि। इनमें से किसी भी नियम का पालन मालिक, ठेकेदार नहीं करता है। सभी नियम-कानून को अपनी जेब में रखकर चलता है।

इन कम्पनियों में लंच एवं छुट्टी का समय कोई नहीं होता है अगर लंच का समय हो गया और आप काम कर रहे हैं तो ठेकेदार कहेगा अरे आधे घंटे बाद लंच कर लेना ये काम तब तक खतम हो जायेगा। छुट्टी के समय भी उसी तरह इतना कर ले उसके बाद छुट्टी कर लेना। किन्तु अगर किसी दिन आप 10 मिनट लेट जाइये तो मालिक पूरा हिसाब पूछेगा कि क्यों लेट आये। यह कम्पनी है कोई धर्मशाला नहीं। यही हालत लगभग सभी फैक्ट्रियों की है कहीं भी मजदूरों की चिन्ता किसी मालिक, ठेकेदार को नहीं होती उसे सिर्फ मुनाफे की चिन्ता होती है।

कम मज़दूर होने के कारण इन फैक्ट्रियों में मालिकों से मज़दूर अपनी कोई मांग नहीं मनवा पाता। क्योंकि हमारी ताकत छोटी होती है उसमें भी एक-दो मज़दूर, फोरमैन मालिक का चमचा ही होता है। किसी चीज का विरोध करने पर मालिक तुरन्त उन मजदूरों को निकालकर नयी भर्ती ले लेता है। दोस्तो, मैं कहना चाहूंगा कि हमारे पास सिर्फ एक ही रास्ता है कि खुद को संगठित करना पड़ेगा, सिर्फ एक फैक्ट्री के मजदूरों को नहीं बल्कि उस पूरे फैक्ट्री इलाके के मजदूरों को। क्योंकि जब तक हम बड़ी ताकत नहीं बनेंगे। मालिक हम लोगों की जिन्दगियों से खेलता रहेगा।

– मुकेश, दिल्ली

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से एक अपील

'मज़दूर बिगुल' के सभी पाठकों, सहयोगियों और शुभचिन्तकों से हमारी अपील है कि अगर आप इस अख़बार को ज़रूरी समझते हैं और जनता का अपना मीडिया खड़ा करने के जारी प्रयासों की इसे एक ज़रूरी कड़ी मानते हैं, तो इसे जारी रखने में हमारा सहयोग करें।

1. 'मज़दूर बिगुल' की वार्षिक, पंचवर्षीय या आजीवन सदस्यता ख़ुद लें और अपने साथियों को दिलवायें।

2. अगर आपकी सदस्यता का समय बीत रहा है या बीत चुका है, तो उसका नवीनीकरण करायें।

3. अख़बार के वितरक बनें, इसे ज़्यादा से ज़्यादा मेहनतकश पाठकों तक पहुँचाने में हमारे साथ जुड़ें। (प्रिण्ट ऑर्डर बढ़ने से लागत भी कुछ कम होती है।)

4. अख़बार के लिए नियमित आर्थिक सहयोग भेजें।

हमें जनता की ताक़त पर भरोसा है और हमारे अनुभव ने यह सिद्ध किया है कि बिना कोई समझौता किये, एक विचार के ज़रिए जुड़े लोगों की साझा मेहनत और सहयोग के दम पर बड़े काम किये जा सकते हैं। इसी ताक़त के सहारे 'बिगुल' 1996 से लगातार निकल रहा है और यह यात्रा आगे भी जारी रहेगी। हमें विश्वास है कि इस यात्रा में आप हमारे हमसफ़र बने रहेंगे।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं। " **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल के सभी पाठकों के सूचनार्थ

मज़दूर बिगुल के फ़ेसबुक पेज (facebook.com/mazdoorbigul) को किसी विदेशी हैकर ने हैक कर लिया है और उस पर कुछ फ़ालतू पोस्ट करना भी शुरू कर दिया है। फ़ेसबुक को सभी साक्ष्यों सहित कई बार लिखने के बावजूद उस पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी है। अन्ततः हमने मज़दूर बिगुल का नया फ़ेसबुक पेज बनाया है - facebook.com/mazdoorbigul1 (अन्त में '1' जोड़ा गया है)। आपसे आग्रह है कि पुराने पेज से आने वाली पोस्ट पर ध्यान न दें और हमारे नये पेज को फ़ॉलो कर लें।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul1

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

QR कोड व UPI

Gpay/Phonepe/Paytm **नम्बर :**
8853476339
UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ-226016
	फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोनः 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये
	वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित)
	आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

चुनाव नज़दीक आते ही मोदी सरकार द्वारा रसोई गैस की क़ीमत घटाने के मायने

• नौरीन

मोदी सरकार के नौ सालों में जनता ने कमरतोड़ महँगाई का सामना किया है। बढ़ती क़ीमतों ने देश की मेहनतकश आबादी का जीना दूभर कर दिया है। लेकिन जैसे-जैसे चुनाव नज़दीक आ रहे हैं मोदी सरकार द्वारा जनता का "हितैषी" बनने का ढोंग शुरू हो गया है। पिछले नौ सालों में जनता के मुद्दों के हर मोर्चे पर बुरी तरह विफल रहने के बाद, फ़ासीवादी मोदी सरकार को 2024 के लोकसभा चुनाव में हार का भूत अभी से डराने लगा है। इसका ताज़ा उदाहरण अभी मोदी सरकार द्वारा 2024 के चुनाव से ठीक पहले रसोई गैस की क़ीमत में दो सौ रूपए की "कटौती" करना है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि समय-समय पर इसी मोदी सरकार के मन्त्री महँगाई पर बेशर्मी भरे बयान देकर जनता के दुःख-तकलीफ़ों का मज़ाक बनाते रहे हैं। यह वही मेहनतकश-विरोधी मोदी सरकार है जो पिछले नौ सालों से आम मेहनतकश जनता का खून चूसकर अन्धाधुन्ध तरीके से महँगाई बढ़ाने में लगी हुई है ताकि अपने पूँजीपति मालिको की तिजोरियां भर सके।

लोग महँगाई पर सवाल न करें, इसके लिए फ़ासीवादी मोदी सरकार ने लोगों के बीच साम्प्रदायिकता का जहर घोला, हिन्दू-मुस्लिम के बीच दंगे कराए, हर समस्या के लिए अल्पसंख्यक के रूप में एक नकली दुश्मन लोगों के सामने पेश किया, मीडिया और सरकारी प्रोपेगेण्डा के द्वारा लगातार माहौल बनाया गया कि उनकी हर समस्या के लिए अल्पसंख्यक ज़िम्मेदार है। लेकिन इस फ़ासिस्ट सरकार की असलियत अब लोगों के सामने आने लगी है। अब लोगों के बीच से सवाल उठने लगे हैं कि क्यों अडानी की सम्पत्ति में सौ गुना से भी ज़्यादा वृद्धि हो जाती है और क्यों आम मेहनतकश लोगों की ज़िन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। फ़ासीवादी मोदी सरकार को यह आशंका सताने लगी है की सिर्फ साम्प्रदायिकता के दम पर चुनाव में बहुमत नहीं हासिल किया जा सकता। यही कारण है कि अब वो कुछ चीज़ों के दामों में मामूली कटौती करके लोगों की "हितैषी" बनने का ढोंग कर रही है। यह जगज़ाहिर है कि यह पूरी फ़ासिस्ट सरकार मेहनतकश विरोधी है और इसे आम जनता से कोई लेना-देना नहीं है।

रसोई गैस के दामों में "कटौती" की हक़ीक़त

रसोई गैस के दामों में किए गए दो सौ रूपए की "कटौती" को लेकर मोदी सरकार अपनी शेखी बघारते हुए जनता को बड़ी राहत देने का दावा कर रही है, जबकि सच्चाई तो यह है कि यह चुनाव में वोट बटोरने का एक हथकण्डा मात्र है। इस कटौती के बाद रसोई गैस की क़ीमत दिल्ली में रु.903, मुंबई में रु.902, कोलकाता में रु.929, चेन्नई में रु.918 तथा भोपाल में रु.908 होगी। इस मामूली कटौती से आम मेहनतकश आबादी के जीवन पर कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ने जा रहा है। 2024 के लोकसभा चुनाव से पहले राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ समेत चार राज्यों के विधानसभा चुनाव होने वाले हैं। वैसे भी इस कटौती को कामर्शियल एलपीजी की क़ीमत में 1 अक्टूबर को र. 209 की वृद्धि करके मोदी सरकार ने सन्तुलित कर दिया। यानी एक हाथ से चवन्नी दी और दूसरे हाथ से अठन्नी ले ली! हम जानते हैं कि मेहनतकशों की एक अच्छी-ख़ासी आबादी बाहर ढाबों व ठेलों पर खाने को बाध्य होती है क्योंकि उनके काम की प्रकृति ही ऐसी होती है, या वे परिवार के साथ नहीं रहते, जिसके कारण वे स्वयं दोनों वक्त खाना नहीं बना पाते।

इस मेहनतकश विरोधी सरकार के पास जनता का कोई मुद्दा नहीं है, इसलिए यह कल्याणकारी सुधारों का भ्रम पैदा करके चुनावी रोटियाँ सेंकने का प्रयास कर रही है। कर्नाटक विधानसभा चुनाव में भाजपा की हार का एक बड़ा कारण सिलेण्डर की क़ीमतों के चलते महिलाओं में नाराज़गी भी थी। इसके बाद मोदी सरकार समझ चुकी है कि आने वाले चुनाव में जीतने के लिए उसे कुछ ऐसे दिखावटी काम करने होंगे जिससे कि उसकी छवि जनता के बीच में एक कल्याणकारी सरकार की बने।

सिलेण्डर की क़ीमतों में कटौती के बाद मोदी सरकार के मन्त्री और सरकारी टुकड़ों पर पलने वाली गोदी मीडिया फ़ासिस्ट मोदी के वाहवाही का ढोल पीट रही है तथा यह दावा कर रही है कि इससे सबसे ज़्यादा फ़ायदा उज्ज्वला योजना के लाभार्थियों को होगा क्योंकि इसके बाद उन्हें रु.400 की छूट मिलेगी यानी उनके लिए गैस की क़ीमत लगभग सात सौ के आसपास रहेगी। लेकिन आँकड़े कुछ और ही कहते हैं। मोदी सरकार के महत्वाकांक्षी योजनाओं में से एक यानी की उज्ज्वला योजना की हकीकत हम सबके सामने है। इस योजना की विफलता की गवाही स्वयं सरकारी आँकड़े ही चीख-चीख कर दे रहे हैं। **सरकारी आँकड़े बताते हैं कि प्रधानमन्त्री उज्ज्वला योजना से जुड़े 9.58 करोड़ परिवारों में से 1.18 करोड़ परिवारों ने वर्ष 2022-23 में कोई रिफिल सिलेण्डर नहीं खरीदा और 1.51 करोड़ परिवारों ने केवल ही बार सिलेण्डर को रिफिल कराया। प्राप्त डेटा से पता चलता है कि औसत लाभार्थियों ने वर्ष 2022-23 के दौरान चार से कम एलपीजी सिलेण्डर रिफिल कराए। संसद में पेश आँकड़ों के अनुसार 2018-19 के दौरान 1.24 करोड़, 2019-20 के दौरान 1.41 करोड़, 2020-21 के दौरान 0.10 करोड़ और 2021-22 के दौरान 0.92 करोड़ लाभार्थियों ने एक बार भी सिलेण्डर रिफिल नहीं कराया। इसके अलावा 2018-19 के दौरान 2.90 करोड़, 2019-20 के दौरान 1.83 करोड़, 2020-21 के दौरान 0.67 करोड़ और 2021-22 के दौरान 1.08 करोड़ लाभार्थियों ने केवल एक बार सिलेण्डर रिफिल कराया।** सरकारी आँकड़ों से ही स्पष्ट है कि जब रसोई गैस की क़ीमत रु. 700 के आसपास थी तब भी एक बड़ी मेहनतकश आबादी इसे खरीदने में असमर्थ थी। आज जिस तरह से अन्य ज़रूरी वस्तुओं के दामों में बढ़ोतरी हो रही है उसके बाद से यह स्थिति और भी भयावह हुई है।

आज देश की एक बड़ी मेहनतकश आबादी जो सुई से लेकर जहाज़ तक बनाती है, वह कारख़ानों की वीभत्स और नरकीय स्थिति में काम करने को मज़बूर है। ऑक्सफैम की हालिया रिपोर्ट बताती है कि देश की ऊपर की एक प्रतिशत आबादी के पास देश की कुल सम्पत्ति का 40 प्रतिशत है जबकि नीचे की 50 प्रतिशत आबादी के पास मात्र तीन प्रतिशत है। देश की लगभग तीन चौथाई आबादी 30-40 रुपए रोज़ाना पर गुज़र बसर करती है। जहाँ देश की एक बड़ी आबादी भोजन और आवास जैसी अपनी बुनियादी ज़रूरतों से महरूम है वहाँ वह हजार रुपए का सिलेण्डर खरीदे, ऐसी उम्मीद करना भी उनकी स्थिति के साथ एक भद्दे मज़ाक से काम नहीं है।'थोथा चना बाजे घना' मुहावरे को चरितार्थ करते हुए मेहनतकश विरोधी मोदी सरकार सिलेण्डर के दामों में कटौती को ऐसे पेश कर रही मानों इसके बाद देश से बेरोज़गारी ,महँगाई, कुपोषण इत्यादि ख़त्म हो जाएगा। सच्चाई तो यह है कि यह आम मेहनतकश जनता के साथ यह उसी छलावे में एक नई कड़ी है जो फ़ासीवादी मोदी सरकार पिछले नौ सालों से करती आ रही है।

सब्सिडी कम करके अपने मालिकों का ख़ज़ाना भरती मोदी सरकार

यूँ बढ़े गैस सिलेंडर के दाम	यूँ घटती गई सब्सिडी की रकम
1 दिसम्बर 2011 – रु.400	2018-19 - रु.37,209
1 दिसम्बर 2015 – रु.545	2019-20 - रु.23,464
1 मई 2020 - रु.588	2020-21 - रु.24,172
29 अगस्त 2023- रु.1103	2021-22 - रु.11,892
30 अगस्त 2023 -रु.903	2022-23 - रु.242
	(रकम करोड़ रुपये में)

पूँजीपरस्त आर्थिक नीतियों को लागू करने में फ़ासीवादी मोदी सरकार ने सभी कीर्तिमानों को ध्वस्त कर दिया है। आज फ़ासीवादी मोदी सरकार नंगई के साथ धन्नासेठों की चाकरी में लगी हुई है । महँगाई- बेरोज़गारी की मार झेल रही जनता के दुःख-तकलीफ़ों से इसे रती भर भी फर्क नहीं पड़ता। आँकड़ों से स्पष्ट है कि एक तरफ तो फ़ासीवादी मोदी सरकार लगातार गैस सिलेण्डर के दाम बढ़ाकर आम मेहनतकश जनता को महँगाई के बोझ तले रौंद रही है वहीं दूसरी तरफ सब्सिडी घटकर आम मेहनतकश जनता के टैक्स के पैसों से पूँजीपति मालिकों की तिजोरियाँ भरने में मशगूल है। समय-समय पर मोदी सरकार महँगाई बढ़ने का कारण अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ारों में गैस की क़ीमतों में बढ़ोतरी तथा बढ़ती हुई आबादी जैसे झूठे और नकली कारणों का शगुफा छोड़ती रहती है जबकि महँगाई बढ़ने का असली कारण व्यापक मेहनतकश जनता की औसत आय में आने वाली भारी कमी, पूँजीपति वर्ग को भारी छूट और रियायतें,जमाखोरी,, भारी अप्रत्यक्ष कर, और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अराजकता है।

पूँजीवादी व्यवस्था का चरित्र ही ऐसा है की जब-जब उसे लगता है कि लोगों के बीच असन्तोष बढ़ता जा रहा है और आने वाले दिनों में उनका गुस्सा किसी आन्दोलन का रूप ले सकता है तब-तब यह व्यवस्था जनता को कुछ रियायत देकर उनके गुस्से के उबाल पर पानी के छींटें मारने का प्रयास करती है। महँगाई की मार से आम लोगों की कमर तोड़ने के बाद अब अपनी चुनावी रोटियाँ सेंकने के लिए ये फ़ासीवादी मोदी सरकार तरह-तरह की तिकड़में अपना रही है। रसोई गैस की क़ीमत में 'ऊँट के मुँह में जीरा'के समान कटौती भी इसी तिकड़म का एक हिस्सा मात्र है। यह बात गाँठ बांध लेने की ज़रूरत है कि महँगाई कोई प्राकृतिक आपदा नहीं जिस पर नियन्त्रण सम्भव नहीं है बल्कि या मौज़ूदा मुनाफा-केन्द्रित व्यवस्था की नैसर्गिक पैदावार है। इस पूँजीवादी-शोषणकारी व्यवस्था में आम मेहनतकश जनता की भलाई सम्भव ही नहीं है। आज एक ऐसी व्यवस्था के लिए हमें अपने आप को संगठित और एकजुट करने की ज़रूरत है जिसमें किसी व्यक्ति द्वारा किसी व्यक्ति का शोषण ना हो अमीर – ग़रीब की ख़ाई ना हो। सबको शिक्षा और रोजगार का हक़ हो । हमें इस फ़ासीवादी मोदी सरकार के चुनावी झाँसों में ना आकर आने वाले चुनाव में अपनी जनएकजुटता क़ायम करके इस सड़े-गले पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए जनआन्दोलन खड़ा करना होगा।

निराशा, अवसाद और पस्तहिम्मती छात्रों को आत्महत्या की तरफ धकेल रही है

• अविनाश (मुम्बई)

इस साल कोटा में रिकॉर्ड स्तर पर छात्रों द्वारा आत्महत्या करने की रिपोर्ट सामने आई है। 2022 में कोटा में 15 छात्रों ने आत्महत्या की थी, वही 2023 में अबतक 26 छात्रों द्वारा आत्महत्या करने की रिपोर्ट सामने आई है। एनसीआरबी की रिपोर्ट बताती है की देश की कुल आत्महत्याओं में से 8 प्रतिशत छात्रों का होता है। कोटा में आम तौर पर दो से ढाई लाख छात्र देश के कोने-कोने से मेडिकल और इंजीनियरिंग प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी के लिए आते है। 2023 में 1.4 लाख एमबीबीएस/बीडीएस सीट के लिए 20 लाख से ज्यादा छात्रों ने परीक्षा दी थी, वही 17 हजार आईआईटी की सीट के लिए 8.6 लाख बच्चों ने फॉर्म भरा था। एक ऐसी प्रतिस्पर्धा जहाँ एक दूसरे के ऊपर चढ़ कर आगे पहुँचना ही 'सफलता की कुंजी' बताई जाती है। सब लोग चूहा-दौड़ में लगे है, जिसकी वजह से पस्तहिम्मती, निराशा, अवसाद और युवा पीढ़ी को अन्धकार में धकलेने का काम लगातार हो रहा है। उन्हें बताया जाता है कि तुम सफल नहीं हुए क्योंकि 'तुम मूर्ख व नालायक हो' क्योंकि तुमने फलाँ परीक्षा नहीं पास की! तब इन आत्महत्याओं के बढ़ने के कारणों की पड़ताल समाज में की जानी चाहिए।

एक तरफ शिक्षा में बढ़ते बाजारीकरण व 'नयी शिक्षा नीति' के तहत अब गुणवत्तापूर्ण अच्छी शिक्षा आम जनता की पहुँच से लगातार दूर होती जा रही है। उसके ऊपर से इस शिक्षा से एक अदद नौकरी पाना भी मुश्किल होता जा रहा है। ठेका प्रथा की वजह से कही भी पक्का काम नहीं मिलता है। एक आँकड़े के अनुसार कोरोना में 4 करोड़ नौकरी वैसे ही चली गयी थी, उसके बाद से अबतक काम मिलना मुश्किल ही रहा है। साथ-साथ मोदी सरकार ने जिस बेशर्मी और नंगई के साथ भारत के कारपोरेट पूँजीपति वर्ग की सेवा की है, वह अभूतपूर्व है। सरकार में आने से पहले इन्होने वायदे किए थे कि 'हर साल दो करोड़ नौकरी देंगे', मगर फासीवादी मोदी सरकार ने सत्ता में आने के बाद निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को जिस गति से लागू किया है, उसकी आज़ाद भारत के इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। रेलवे के निजीकरण, ओएनजीसी के निजीकरण, एयर इण्डिया के निजीकरण, बीएसएनएल के निजीकरण, बैंक व बीमा क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजी को हर प्रकार के विनियमन से छुटकारा, पूंजीपतियों को श्रम कानूनों, पर्यावरणीय कानूनों व अन्य सभी विनियमनकारी औद्योगिक कानूनों से छुटकारा, मज़दूर वर्ग के संगठन के अधिकार को एक-एक करके छीनना लगातार जारी है। यह सारी नीतियाँ भी छात्रों- युवाओं में निराशा और अवसाद पैदा करने के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष तौर पर उतने ही ज़िम्मेदार है।

ऐसे में आत्महत्या के मामलों में रिकॉर्ड बढ़ोतरी के ख़लिाफ़ प्रशासन लिए उठाए गए कदम, जिसमें पंखों में एक एण्टी-हैंगिंग डिवाइस लगाना और कोचिंग संस्थानों को दो महीने तक कोई परीक्षा न लेने का आदेश देना, यह अपने आप में इस समस्या का समाधान नहीं है। इस अन्धकारमय और निराशाजनक माहौल में, सभी को अपनी सामाजिक भूमिका को पहचानने की ज़रूरत है। करियर के लिए अन्धी दौड़ में युवाओं के जीवन की बलि चढ़ने की इस त्रासदी के पीछे वास्तव में मुनाफ़ा-केन्द्रित व्यवस्था है। जब तक यह पूँजीवादी व्यवस्था कायम रहेगी, तब तक करियर के पीछे जारी यह अमानवीय चूहा-दौड़ भी जारी रहेगी और युवाओं का जीवन भी तबाह होता रहेगा।

ग्रामीण आजीविका मिशन : ग्रामीण महिलाओं और बेरोज़गार नौजवानों के श्रम को लूटने का मिशन

● अविनाश

खेती में पूँजीवादी विकास के चलते गांवों में एक बड़ी आबादी खेती-बाड़ी से उजड़ रही है और विशाल सर्वहारा वर्ग का हिस्सा बनती जा रही रही है। कृषि क्षेत्र में रोज़गार के अवसर लगातार कम होते जा रहे हैं। गांवों से एक बड़ी आबादी जीविका की तलाश में औद्योगिक शहरों की तरफ पलायन कर रही है। इन शहरों में इतनी बड़ी आबादी को खपा पाने की क्षमता नहीं है और अनियंत्रित रूप से बढ़ता यह प्रवासन पूँजीवादी व्यवस्था में विस्फोटक स्थिति पैदा कर सकता है। इसलिए उस व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार बीच-बीच में ऐसी योजनाएँ पेश करते हैं जो ऊपरी तौर पर तो जनपक्षधर लगती हैं लेकिन जिनका मकसद लूट पर टिकी इस मानवद्रोही व्यवस्था के जीवन को लम्बा बनाना है। इसी तरह की एक योजना 'दीनदयाल अंत्योदय योजना राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन' है। इस योजना के तहत ग्रामीण महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने और स्थानीय स्तर पर रोज़गार का सपना बेचा जा रहा है।

क्या है एनएलआरएम योजना?

1999 में भारत सरकार के ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा 'स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोज़गार योजना' लायी गयी। 2013 में इसका नाम 'राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन' कर दिया गया। जिसे मोदी सरकार ने 26 मार्च 2016 को 'दीनदयाल अंत्योदय योजना राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन' कर दिया। यह योजना देश के 30 राज्यों के 600 जिलों, 6769 ब्लॉक, 2.5 लाख ग्राम पंचायतों में संचालित हो रही है। इसमें 9 से 10 करोड़ ग़रीब महिलाओं के द्वारा परिवार को स्वयं सहायता समूहों से जोड़ते हुए उन्हें पंचायत स्तर पर ग्राम संगठन एवं ब्लॉक स्तर पर संकुल स्तरीय संघ से जोड़ने का लक्ष्य रखा गया है। योजना के तहत 10 महिलाओं के समूह को केन्द्र सरकार ब्याज पर 1,10,000 की धनराशि स्वरोज़गार के लिए देती है। यानी प्रत्येक परिवार के हिस्से में स्वरोज़गार के हसीन सपनों के लिए ब्याज़ पर 11,000 रुपये आते हैं! कोई भी समझ सकता है कि महँगाई के दौर में 11,000 रुपये में चाय की दुकान भी नहीं खोली जा सकती। इस तरह सरकार की यह योजना मेहनतकश आबादी को स्वरोज़गार के माध्यम से अमीर बनाने के मीठे सपने दिखाकर मनरेगा की ही तरह ग्रामीण महिलाओं को भुखमरी की रेखा पर गाँवों की चौहद्दी में क़ैद करने की योजना है।

मिशन द्वारा दिये जा रहे रोज़गार की हक़ीक़त

सरकारों और उसके भोंपू मीडिया का दावा है कि इस योजना के जरिये महिला सशक्तिकरण हो रहा है और देश की महिलाएँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन रही हैं। लेकिन हक़ीक़त यह है कि इस योजना के ज़रिये ग्रामीण महिलाओं का सर्वाधिक बर्बर शोषण किया जा रहा है। इसे इन उदाहरणों से समझा जा सकता है। इस योजना के तहत एक ग्राम पंचायत में एक बैंक करेसपोंडेंट (बी.सी.) सखी बनायी गयी है, जिसे प्रत्येक ग्राम पंचायत में बी.सी. केन्द्र खोलने के लिए ब्याज पर 75000 रुपये दिया जाता है। बी.सी. सखी का काम लोगों की बैंक सम्बन्धी परेशानियों का निस्तारण करना है। इस बी.सी. सखी को मात्र छह माह तक ही 4 हज़ार रुपये का मानदेय दिया जाता है और इसके बाद सरकार इन्हें आत्मनिर्भर मान लेती है। चूँकि इनके ऊपर 75000 का क़र्ज़ है इसलिए ये इस काम को छोड़ भी नहीं सकती हैं। उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या लगभग 40 हज़ार है।

बैंक सखी – यह समूह की वो महिला है जिसे बैंक में बैठ कर कार्य करना है, इनका मानदेय भी 4 हज़ार रुपए रखा गया है। इन्हें चार हज़ार में ही बैंक कर्मचारियों के बराबर काम करना पड़ता है। उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या लगभग पाँच हज़ार है। इन बैंक सखियों को सरकारी कर्मचारियों की घृणा और हेय दृष्टि का शिकार भी होना पड़ता है।

समूह सखी – यह समूहों को संचालित करने व लेखा-जोखा रखने हेतु प्रत्येक ग्राम में रखी जाती है, जिसे मानदेय के रूप में मात्र बारह सौ रुपये ही दिये जाते हैं। उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या लगभग 58 हज़ार है। इनके अलावा सरकार ने समूहों को संचालित करने के लिए कई अन्य कैडर भी रखे हैं, जैसे, विद्युत सखी/ बिजली सखी, स्वास्थ्य सखी, ग्राम संगठन बुक-कीपर, समूह गठन के लिए आई.सी.आर.पी., आजीविका सखी, पशु सखी, मनरेगा-मेट सखी आदि और इन सभी सखियों की एक ही कहानी है।

दरअसल यह मिशन महिला सशक्तिकरण के नाम पर महिलाओं के श्रम की खुली लूट है। दिहाड़ी मजदूरों से भी कम मज़दूरी पर इन महिलाओं को खटाया जा रहा है और सरकार फ़र्जी आँकड़ों की बाज़ीगरी कर इन्हें अपने सरकारी रजिस्टर में रोज़गारशुदा दिखाती है।

मिशन में कार्यरत कर्मचारियों (संविदाकर्मियों) की स्थिति

इस पूरी योजना की देखरेख और सुचारु ढंग से चलाने के लिए प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा संविदा नीति- 2013 (असल में ठेकाप्रथा) के तहत मल्टीलेयर संविदाकर्मियों की भर्ती की गयी है जिन्हें अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग नाम दिया गया है। उत्तर प्रदेश में इन्हें डाटा एंट्री ऑपरेटर, क्लस्टर को-ऑर्डिनेटर, यंग-प्रोफेशनल, ब्लॉक-मिशन मैनेजर, जिला मिशन मैनेजर एवं स्टेट मिशन मैनेजर का नाम दिया गया है। उत्तर प्रदेश में 10 हज़ार मिशनकर्मियों की मंजूरी है लेकिन उत्तर प्रदेश की योगी सरकार यह काम 4,000 मिशनकर्मियों से करवा रही है। ऊपर से इन मिशनकर्मियों से पोलियो पिलाने से लेकर चुनाव में ड्यूटी आदि काम भी लिए जाते हैं। चूँकि सरकार इन कर्मियों को ठेकाप्रथा के तहत मान्यता देती है इसलिए इन्हें किसी भी प्रकार की सरकारी राहत या योजना का लाभ नहीं दिया जाता। उत्तर प्रदेश में मिशनकार्मिकों को घर से 500-500 किमी की दूर काम पर रखा गया है और ठेका व्यवस्था का हवाला देते हुए 2021 से तबादला नीति को खत्म कर दिया है। मलतब इन कर्मियों को बेहद कम मानदेय पर घर से बाहर किराए पर रहने के लिए मजबूर किया जा रहा है। इन कर्मियों को सुरक्षा बीमा के नाम पर कुछ भी हासिल नहीं है। काम के दौरान होने वाली किसी दुर्घटना और यहाँ तक की पिछले 5 वर्षों में काम के दौरान लगभग 25 मिशनकर्मियों की मौत हो चुकी है लेकिन किसी को कोई मुआवज़ा नहीं मिला है। महँगाई आसमान छू रही है लेकिन मिशनकर्मियों के वेतन में 2016 से कोई वृद्धि नहीं की गयी है।

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार का यह मिशन ग्रामीण महिलाओं और आम बेरोज़गार नौजवानों के शोषण-उत्पीड़न का मिशन है। दरअसल मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक गति ही ऐसी है कि अपने उत्तरोत्तर विकास के साथ यह एक बड़ी आबादी को तबाही-बर्बादी की तरफ ढकेलती है। जिसकी वजह से जनाक्रोश फूटने का डर हमेशा बना रहता है। पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा सताये हुये आम लोगों के आक्रोश को ठंडा करने के लिए हुक्मरान बीच-बीच में ऐसी योजनाएँ पेश कर जनता की आँख में धूल झोकने का काम करते हैं।

कब तक अमीरों की अय्याशी का बोझ हम मज़दूर-मेहनतकश उठायेंगे!

● भारत

बीते 8-9-10 सितम्बर को दिल्ली पूरी तरह छावनी में तब्दील हो गयी थी। यह इस वजह से हुआ क्योंकि भारत इस बार जी-20 का प्रतिनिधित्व कर रहा था। कुछ लोग इसपर सोच सकते हैं कि देश का नाम हो रहा है, मोदीजी के आने के बाद पहली बार देश में जी-20 का सम्मेलन हो रहा है, तो इसमें थोड़ा दुःख तो सह ही सकते थे। पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि यह कोई मोदी सरकार के दम पर नहीं हो रहा। असल में हर बार के सम्मेलन में किसी एक देश को इसकी अध्यक्षता दी जाती है और अगला सम्मेलन अध्यक्ष देश के मेज़बानी में उसी देश में होता है। यह मौका चक्रीय क्रम से इस समूह में शामिल सब देशों को मिलता ही है। अबकी बार भारत की बारी आयी थी, तो यह कोई महान उपलब्धि नहीं है। भारत में नरेन्द्र मोदी की जगह कोई चमगादड़ दास या कद्दू प्रसाद नाम का व्यक्ति भी सरकार का प्रमुख होता तो भी यह सम्मेलन भारत में ही होता। इस शिखर सम्मेलन का भारत में आयोजन होने में मोदी सरकार का कोई योगदान नहीं है।

दूसरा यह भी समझना चाहिए कि ऐसे सम्मेलनों से हम मज़दूर-मेहनतकशों को कुछ भी हासिल नहीं होगा। जी-20 में शामिल प्रत्येक सदस्य देश के शासक वर्ग यानी कि पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करने वाली सरकार के प्रमुख अपने-अपने देश के शासक वर्ग के हितों के हिसाब से जी-20 के मंच का इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार के मंचों का इस्तेमाल विभिन्न देशों के पूँजीपति वर्ग मेहनत की लूट की होड़, सस्ते कच्चे मालों पर कब्ज़े तथा व्यापारिक सौदेबाज़ी में अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करने के लिए करते हैं। जी-20 समूह के सभी देशों के वित्त मन्त्री और केन्द्रीय बैंकों के गवर्नर सामंजस्य बैठाकर काम करते हैं, हर किसी की कोशिश यही होती है कि अपने देश के पूँजीपतियों को अधिक से अधिक लाभ दिला सके। मोदी सरकार भी इसी मक़सद से इसमें भागीदारी कर रही है कि टाटा-बिड़ला-अदाणी-अम्बानी और देश के पूँजीपतियों को अधिक मुनाफ़ा देने का इन्तज़ाम करे और विदेशी पूँजीपतियों को भारत में मज़दूरों का शोषण करने के लिए आमंत्रित करे। इस दौरान सभी देशों में आम सहमति बनाकर सभी देशों ने हस्ताक्षर किया। मोदी सरकार ने इसे भी एक जीत के तौर पर पेश किया। पर इसके पीछे की जो चालाकी थी, वह अलग से एक लेख की माँग करता है, पर संक्षेप में यह कह सकते हैं कि गोल-मोल भाषा का प्रयोग कर, रूस-यूक्रेन युद्ध में किसी को निशाना बनाए बिना सभी देशों की सहमति बना ली गयी। साथ ही भारत के पूँजीपतियों के लिए व्यापार का एक बेहतर रूट यानी इण्डिया-मिडिल ईस्ट-यूरोप कॉरिडोर का भी ऐलान किया गया।

अब आते हैं असल सवाल पर कि इस पूरी अय्याशी में आख़िर ख़र्च कितना हुआ और वह किसने उठाया?

दिल्ली पुलिस, पी.डब्ल्यू.डी, एम.सी.डी, डी.डी.ए, और एन.एच.ए.आई– सहित दिल्ली सरकार और केन्द्र की विभिन्न एजेंसियों ने मिलकर राजधानी में जी-20 शिखर सम्मेलन की तैयारियों पर तक़रीबन 4,100 करोड़ रुपये ख़र्च किया गया। केन्द्रीय राज्य मन्त्री की तरफ से पेश किये गये एक दस्तावेज़ के मुताबिक वाणिज्य और उद्योग मन्त्रालय के अन्तर्गत आने वाले इण्डिया ट्रेड प्रमोशन ऑर्गेनाइजेशन (ITPO) ने सबसे ज़्यादा 3,500 करोड़ रुपया ख़र्च किया, इसके बाद 340 करोड़ रुपये का ख़र्च दिल्ली पुलिस ने किया। दिल्ली में आयोजन स्थलों और सड़कों को 6.75 लाख फूलों वाले पौधों और झाड़ियों से सजाया गया। जिन देशों ने पहले जी-20 की अध्यक्षता की है, उन्होंने भी इसकी तैयारी पर अच्छी-खासी रकम ख़र्च की है, पर मोदी सरकार ने ख़र्चों के मामले में सारे पुराने रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये। उदाहरण के लिए टोरण्टो यूनिवर्सिटी के एक रिसर्च पेपर के अनुसार अर्जेंटीना ने शिखर सम्मेलन के दौरान 11.20 करोड़ डॉलर (लगभग 931.59 करोड़ रुपये) ख़र्च किये, जबकि जर्मनी ने 2017 हैम्बर्ग शिखर सम्मेलन के लिए 7.22 करोड़ यूरो (लगभग 643.47 करोड़ रुपये) ख़र्च किये थे।

अब सवाल यह उठता है कि यह पैसा आख़िर किसका है?

इस सम्मेलन में ख़र्च होने वाला एक-एक पैसा भारत की आम जनता का है। हमारे-आपके द्वारा दिये गये टैक्स के पैसों से ही पूरी दुनिया के पूँजीपतियों के लिए अय्याशी के इन्तज़ाम किये थे। इस सम्मेलन का सारा बोझ मज़दूर-मेहनतकश आबादी पर ही पड़ा है। दिल्ली में शिखर सम्मेलन की तैयारियों में मोदी सरकार ने खज़ाना ही खोल दिया था। जनता से वसूले गये टैक्स के पैसों को जमकर ख़र्च किया गया। सरकार की वाहवाही करते हुए विज्ञापन निकाले गये। दिल्ली में तो जी-20 के थीम पर एक नये पार्क का निर्माण भी हुआ। कई स्थानों पर अतिक्रमण हटाने के नाम पर सड़क किनारे रेहड़ी-पटरी लगाकर या छोटी दुकान चलाने वाले मेहनतकश लोगों का माल ज़ब्त कर लिया गया तथा उनसे जगह छीन ली गयी।

अब आते हैं अगले सवाल पर कि इस पूरे आयोजन में दिल्ली की जनता के साथ मोदी सरकार ने क्या किया?

जी-20 शिखर सम्मेलन से ठीक पहले दिल्ली में हरे रंग के पर्दे और फ्लेक्स को झुग्गी-झोपड़ियों के सामने लगा दिया गया ताकि भारत की ग़रीबी पर पर्दा डाला जा सके। लेकिन जी-20 के लिए दिल्ली में जो 'सौंदर्यीकरण' का अभियान चला, उसके तहत ये सब होना केवल एक ही पहलू है जिससे झुग्गी में रहने वाले लोगों को कई परेशानियों का सामना करना पड़ा। मोदी सरकार ने जी-20 के नाम पर ग़रीबों के ख़िलाफ़ खुलकर काम किया। दिल्ली में ही कई सारी झुग्गी बस्तियों को तोड़ दिया गया। इस दौरान धौला कुआँ, मूलचन्द बस्ती, यमुना बढ़ क्षेत्र के आस-पास की झुग्गियों, महरौली, तुगलकाबाद के इलाक़े में झुग्गियों को तोड़ा गया। इससे क़रीब 2 लाख 61 हज़ार लोग प्रभावित हुए। साथ ही जिन झुग्गियों को तोड़ नहीं पाये, उन्हें हरे पर्दे से ढक दिया गया, ताकि जी-20 के प्रतिनिधियों को भारत की ग़रीबी न दिखे।

मोदी सरकार के आदर सत्कार के सभी आयामों को तोड़ दिया और सोने-चांदी के बर्तन में प्रतिनिधियों को खाना खिलाया गया। पर इन सबके पीछे मोदी सरकार का मक़सद क्या था? इन सबके पीछे का कारण है 2024 का चुनाव। मोदी सरकार जानती है कि आगामी चुनाव में उसका जीतना मुश्किल है। देश की आम जनता, महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार से परेशान है। वहीं आरएसएस, बजरंग दल, विश्व हिन्दू परिषद द्वारा दंगे भड़काने की कोशिशें भी असफल हो रही है, मोदी सरकार के पक्ष में किसी भी तरह से माहौल नहीं बन पा रहा। इसी वजह से मोदी सरकार ने जी-20 के आयोजन को बड़े स्तर पर अपने प्रचार के लिए इस्तेमाल किया, ताकि जनता को लगे कि मोदी जी के कारण देश का दुनिया में नाम हो रहा है। पर असल में सच्चाई इसके उल्ट है। ऐसे में हमें मोदी सरकार से सवाल करना चाहिए कि अमीरज़ादों की अय्याशी का ख़र्चा हम अपनी ज़ेब व ज़िन्दगी काट कर क्यों दें? कब तक हम अमीरों की तरक्की को देश की तरक्की समझते रहेंगे?

छह राज्यों की सात विधानसभा सीटों पर उपचुनाव के नतीजे और उनके मायने

• आशीष

विगत पाँच सितम्बर को देश के छह राज्यों के सात सीटों पर विधानसभा उपचुनाव के लिए मतदान हुआ और आठ सितम्बर को उसके नतीजे घोषित किए गये।

जहाँ विधानसभा के सीटों पर उपचुनाव हुए वह है - घोसी (उत्तर प्रदेश), डुमरी (झारखण्ड), धूपगुड़ी (प. बंगाल), पुथुपल्ली (केरल), बागेश्वर (उत्तराखण्ड) और बॉक्सनगर व धनपुर (त्रिपुरा)।

गोदी मीडिया अन्य चुनावों की तरह ही इस उपचुनाव को भी 2024 के लोकसभा चुनाव का सेमीफाइनल बताकर ख़बर चला रहा था। हर बार की तरह गोदी मीडिया सत्ता पक्ष यानी भाजपा के पक्ष में लहर पैदा करने काम पूरी लगन से कर रहा था। यह अलग बात है कि भाजपा आरएसएस द्वारा फैलाये जा रहे हर उन्माद और गोदी मीडिया के चाटुकार पत्रकारों के मदद के बावजूद भी भाजपा के हिस्से में बमुश्किल केवल तीन सीटें ही आ सकी जिसमें से एक वह बहुत मुश्किल से जीत पायी, और चार सीटों पर भाजपा की एनडीए गठबन्धन को हार का मुँह देखना पड़ा।

अब अलग-अलग राज्यों के सीटों के परिणामों पर नज़र डालते हैं।

घोसी (उत्तर प्रदेश) के विधानसभा सीट पर चुनाव समाजवादी पार्टी के दारा सिंह चौहान द्वारा पाला बदलकर भाजपा में शामिल होने के कारण हुआ। इस चुनाव में भाजपा की ओर से दारा सिंह चौहान चुनाव लड़ रहे थे और समाजवादी पार्टी की तरफ से सुधाकर सिंह। परिणाम समाजवादी पार्टी के पक्ष में आया और उसकी जीत हुई। विगत उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में दारा सिंह चौहान के जीतने के पहले इस सीट पर भाजपा उससे पहले के विधानसभा चुनाव में लगातार दो बार जीत हासिल कर चुकी थी। इस बार के चुनाव प्रचार में योगी आदित्यनाथ ने भी प्रचार किया था और भाजपा नेता और राज्य के उपमुख्यमन्त्री केशव मौर्य ने तो प्रचार के दौरान लम्बे समय तक वहाँ कैम्प किया था।

पहचान और आरक्षण की राजनीति करने वाले नेता ओमप्रकाश राजभर की पार्टी पिछले दिनों एनडीए में शामिल हो गयी है। ओमप्रकाश राजभर पाला बदलने में बिहार के मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार से बहुत ज़्यादा पीछे नहीं है। पाला बदलने के साथ साथ ओमप्रकाश राजभर अनाप-शनाप बोलने और बड़बोलेपन के महारथी हैं। ओमप्रकाश राजभर जब भाजपा गठबन्धन के ख़िलाफ़ होता है तो उसके लिए निहायती सस्ते क़िस्म के जुमले का इस्तेमाल करता है और जब भाजपा के पक्ष में खड़ा होता है तो विपक्षियों के लिए इसी प्रकार के बयानों का सहारा लेकर मीडिया में सुर्खियाँ बटोरता है। किसी व्यक्ति को यह लग सकता है कि यह ओमप्रकाश राजभर का दोमुँहापन या मसखरापन है, लेकिन मज़दूर साथियों को यह समझ लेना चाहिए कि यह केवल उस व्यक्ति या पार्टी की समस्या नहीं है। जाति और किसी अन्य अस्मिता या पहचान की राजनीति की यही नियति हो सकती है। पहचान की राजनीति की कोई प्रतिबद्धता नहीं होती है इसीलिए राजभर के अलावा और भी कई सारे अस्मितावादी राजनीति के नेताओं ने सत्ता और ताकत के लिए किसी भी मज़दूर मेहनतकश विरोधी सरकार या पार्टी से सौदेबाज़ी में कभी गुरेज़ नहीं किया। बहरहाल मूल मुद्दे पर वापस लौटते हैं। ओमप्रकाश राजभर ने भी भाजपा के पक्ष में माहौल बनाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी इसके बावजूद घोसी में भाजपा को बुरी तरह पराजय का सामना करना पड़ा। विपक्षी दलों गठबन्धन भी जनता की नुमाइन्दगी नहीं करता वर्तमान सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष और विकल्पहीनता के कारण ही यहां उसकी जीत हुई।

पश्चिम बंगाल के धूपगुड़ी विधानसभा सीट भी भाजपा के हाथ से निकल गयी। यहाँ पर ममता बनर्जी की पार्टी तृणमूल कांग्रेस के उम्मीदवार की जीत हुई। इस सीट पर चुनाव लड़ रही संसदीय वामपन्थी और संशोधनवादी पार्टी सीपीआईएम के उम्मीदवार को कांग्रेस के समर्थन के बावजूद बेहद ही कम वोट मिले और भयंकर पराजय का सामना करना पड़ा।

झारखण्ड के डुमरी विधानसभा सीट पर भी भाजपा गठबन्धन की आजसु पार्टी के उम्मीदवार को हेमन्त सोरेन की पार्टी झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के उम्मीदवार से हार मिली।

केरल के पुथुपल्ली विधानसभा सीट पर कांग्रेस उम्मीदवार को जीत मिली और वहाँ सत्तासीन तथाकथित लेफ्ट गठबन्धन को हार का सामना करना पड़ा। कांग्रेस और संसदीय वामपन्थी, संशोधनवादी पार्टियाँ देश स्तर पर इण्डिया गठबन्धन बनाकर भाजपा को सत्ता से हटाने की बात करती है और केरल में इनके बीच खींचतान का नमूना यहाँ के विधानसभा उपचुनाव में सीधे तौर पर देखने को मिला।

उत्तराखण्ड के बागेश्वर विधानसभा सीट पर भाजपा उम्मीदवार को जीत हासिल हुई। यह सीट भाजपा विधायक चन्दन राम दास के मृत्यु के बाद खाली हुई थी। कांग्रेस उम्मीदवार को यहाँ पर हार का सामना करना पड़ा। उत्तराखण्ड के अन्दर जनता भाजपा की धामी सरकार से त्रस्त है लेकिन वहाँ भी विपक्षी पार्टी कांग्रेस , भाजपा की उन्मादी साम्प्रदायिकता की राजनीति के बरक्स नरम हिन्दुत्व के कमजोर हथियार से मुक़ाबला कर रही है। इसके अलावा राज्य में पिछले दिनों भाजपा आरएसएस द्वारा प्रायोजित साम्प्रदायिक तनाव के माहौल ने भी उसके पक्ष में चुनावी जीत को सुनिश्चित करने में एक भूमिका निभायी।

त्रिपुरा के बॉक्सनगर और धनपुर सीट पर भाजपा उम्मीदवार ही चुनाव में जीते। संशोधनवादीपार्टी सीपीआईएम के उम्मीदवार को यहाँ पर हार का सामना करना पड़ा। त्रिपुरा के अन्दर सीपीआईएम की सरकार रह चुकी है। मज़दूर मेहनतकश वर्ग से गद्दारी कर चुकी सीपीआईएम के कुकर्मों का नतीजा यह है कि वहाँ अपने व्यापक सामाजिक आधार के बावजूद इसकी हालत दिन-ब-दिन चुनावी राजनीति में भी फिसड्डी होती जा रही है। जिन्हें क्रान्ति करनी ही ना हो वह क्यों जनता के बीच क्रान्तिकारी प्रचार और उसको गोलबन्द करने का काम करेगी? क्रान्तिकारी प्रचार प्रसार और कैडरों के शिक्षण प्रशिक्षण नहीं होने के कारण इस पार्टी के अधिकतर कैडरों में भी कोई प्रतिबद्धता नहीं बचा है। सत्ता चले जाने के बाद एक बड़ा हिस्सा भाजपा के कतार में जाकर शामिल हो रहा है त्रिपुरा के अलावा बंगाल एवं अन्य राज्यों में यही स्थिति है।

सामान्य तौर पर देखा जाए तो यह उपचुनाव भी इस व्यवस्था के अन्दर होने वाले अन्य चुनावों के तरह ही था । हम जानते हैं कि पूँजीपतियों के इस लोकतन्त्र यानी बुर्जआ जनवाद के जरिये शासक वर्ग मज़दूर व मेहनतकश जनता पर शासन करने के लिए उन्हीं से सहमति लेता है। देश के भीतर मौजूद सभी बुर्जआ चुनावबाज़ पार्टी और सभी नकली वामपन्थी पार्टी बुर्जआ वर्ग के किसी न किसी धड़े का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए इन पार्टियों के बीच आपसी कुत्ताघसीटी भी होती है, झगड़े होते हैं लेकिन मज़दूरों के मेहनत को लूटने खसोटने में इनके बीच एकता भी होती है। इस व्यवस्था के अन्दर होने वाले सभी चुनाव इस तथ्य का अपवाद नहीं होता। हाँ, अगर किसी चुनाव में मज़दूर वर्ग का अपना स्वतन्त्र क्रान्तिकारी विकल्प हो तो स्थिति अलग होती है। यह स्वतन्त्र क्रान्तिकारी पक्ष मज़दूर और मेहनतकश जनता को इस या उस बुर्जआ चुनावबाज़ पार्टी या नकली वामपन्थी पार्टी के पिछलग्गू बनने के बजाय एक सही विकल्प पेश करता है। निश्चय ही, चुनावों के रास्ते इतिहास में कभी समाज में कोई आमूलगामी परिवर्तन नहीं हुआ है। लेकिन चुनाव के क्षेत्र में मज़दूर वर्ग अगर रणकौशलात्मक तौर पर अपना स्वतन्त्र पक्ष निर्मित नहीं करता, तो मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदाय बुर्जुआ वर्ग के पिछलग्गू बनते हैं। मज़दूर मेहनतकश जनता का एक स्वतन्त्र क्रान्तिकारी विकल्प यानी किसी क्रान्तिकारी पार्टी द्वारा चुनाव में हिस्सेदारी करने पर बुर्जआ वर्ग के आपसी अन्तरविरोधों का फ़ायदा उठाकर तथा जन आन्दोलनों के दबाव के दम पर इस व्यवस्था के दायरे के अन्दर सम्भव मज़दूर-मेहनतकश जनता के जनवादी अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष भी करती है, लेकिन वह इसी रास्ते इंक़लाब का ख़याली पुलाव नहीं पकाती। इसके साथ ही इस रणकौशलात्मक भागीदारी के ज़रिये क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत का भण्डाफोड़ करती है और मज़दूर मेहनतकश के दूरगामी लक्ष्य यानी यानी समाजवादी क्रान्ति के लक्ष्य व समाजवादी कार्यक्रम से भी अवगत कराती है।

बहरहाल, इस विधानसभा चुनाव के परिणाम को देखे तो यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है मोदी और भाजपा की जो लहर मीडिया द्वारा बनाई गयी थी वह ढलान पर है। सातों सीटों के चुनाव में भाजपा नेताओं ने मोदी के नाम पर वोट करने की अपील की जिसका उतना असर लोगों पर नहीं हुआ। महँगाई, बेरोज़गारी, भ्रष्टाचार और मोदी सरकार की जन विरोधी नीतियों के कारण देश के व्यापक आबादी में एक असन्तोष का वातावरण है। विधानसभा उपचुनाव के नतीजे इस तरफ संकेत कर रहा है। साथ ही यह नज़र आ रहा है कि बुर्जुआ व्यवस्था के भीतर विकल्पहीनता के दायरे में ही सही, अगर बुर्जुआ विपक्ष मोदी सरकार द्वारा बाँह मरोड़ने के प्रयासों से आतंकित नहीं हुआ और कम-से-कम 300 सीटों पर विपक्ष का एक अकेला उम्मीदवार खड़ा करने में कामयाब हुआ, तो भाजपा के लिए 2024 के चुनावों में दिक्कत पैदा हो सकती है। इसीलिए भाजपा अभी से साम्प्रदायिक दंगे व लहर फैलाने और अन्धराष्ट्रवाद फैलाने की कोशिशों में लग गयी है। जनता को सावधान रहना होगा।

राजेन्द्र धोड़पकर के दो कार्टून

“महँगाई-बेरोज़गारी भूल जाओ! पाकिस्तान को सबक सिखाओ!”

– गोदी मीडिया की गलाफाड़ू चीख-पुकार, यानी चुनाव नज़दीक आ गये हैं!

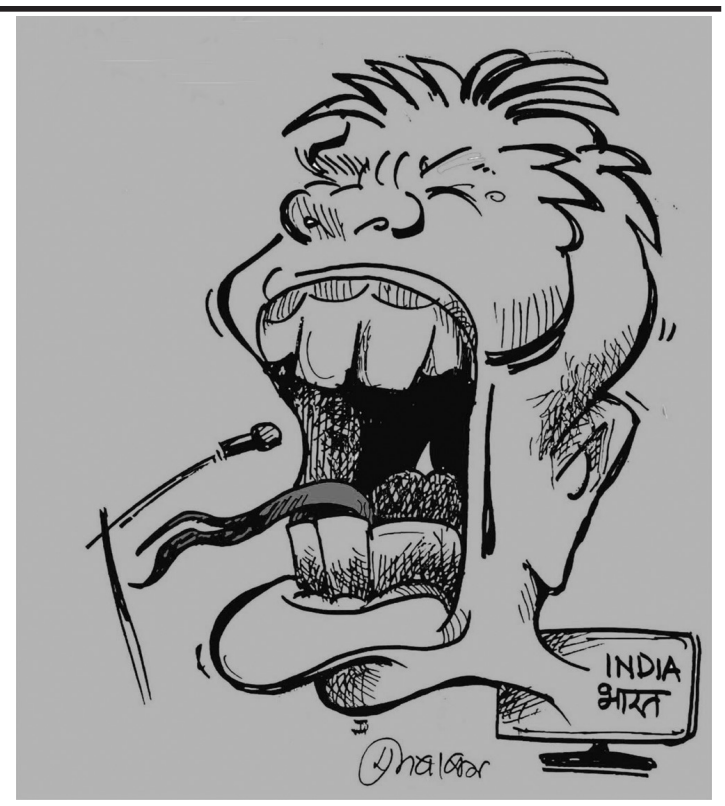

• लता

13 सितम्बर 2023, कश्मीर के अनन्तनाग में आतंकवादियों के साथ मुठभेड़ में सेना के दो और पुलिस के एक अधिकारी की मौत हो गई। आतंकवादियों को खोज निकालने की सेना और पुलिस की संयुक्त कार्रवाई में कर्नल मनप्रीत सिंह, मेजर आशीष धोनचक और डीएसपी हुमाऊँ मुज़म्मिल भट्ट शामिल थे। इस दौरान ही तीनों घायल हुए और फिर उनकी मौत हो गई।

इन तीन अधिकारियों की मौत के बाद मीडिया में दो-तीन दिनों तक आतंकियों की खोज और अधिकारियों के घर परिवार के शोक और अन्तिम संस्कार की खबरें बनी रहीं। गोदी मीडिया से जैसी उम्मीद है वैसी ही रिपोर्टिंग हो रही थी। घर-परिवार वालों को उनके दुख के समय भी मुँह पर माइक लगा कर जबरदस्ती सवाल पूछे जा रहे थे।

गोदी मीडिया इस घटना के बाद जैसा माहौल बना रही थी उसे देखते हुए साफ़ लग रहा था कि एक उन्माद पैदा करने की कोशिश की जा रही है। परिजनों का रोना-बिलखना, भावविह्वल कर देता है। इसके बीच गोदी मीडिया पाकिस्तान को मज़ा चखाने, पाकिस्तान के कब्ज़े वाले कश्मीर को आज़ाद करने, बदला लेने की चीख-पुकार करता रहा। इन खबरों को देख कर अक्सर लोग भूल जाते हैं की चुनाव आ रहे हैं, उनके असल मुद्दे क्या हैं और इन भड़काऊ बातों में फँस जाते हैं। गोदी मीडिया अन्ध-राष्ट्रवाद का माहौल बनाती है और हम भी उनके सुर में सुर मिलाने लग जाते हैं।

लेकिन हमें यह पूछना चाहिए की जब चुनाव नज़दीक होते हैं तभी आतंकवादी हमले, सीमा पर घुसपैठ, उग्रवादियों के साथ मुठभेड़, सर्जिकल स्ट्राइक क्यों होने लग जाते हैं? हमें यह सवाल बार-बार दुहराना चाहिए क्योंकि दिन-रात गोदी मीडिया की भड़काऊ खबरों और परिजनों के विलाप, सड़कों पर बदले के नारों के बीच हम अपना विवेक खो बैठते हैं। अभी मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, तेलंगाना में विधान सभा चुनाव हैं और 2024 में लोकसभा चुनाव। याद रखें की चुनाव नज़दीक है और चुनावों में भाजपा की हालत उतनी अच्छी नहीं है और दिन-ब-दिन बिगड़ भी रही है। इसका असली कारण है: भयंकर महँगाई, अभूतपूर्व बेरोज़गारी और रिकार्डतोड़ भ्रष्टाचार। दो करोड़ नौकरी हर साल देने का वायदा करने वाली मोदी सरकार के दो कार्यकाल के दौरान देश में 32 करोड़ नौजवान बेरोज़गार हैं। भ्रष्टाचार मापने वाले बैरोमीटर के अनुसार पूरे एशिया में भ्रष्टाचार के मामले में भारत प्रथम स्थान पर है। व्यापम और रफाएल जैसे बड़े घोटालों के अलावा हम अपनी जिन्दगियों में देख सकते हैं कि छोटे-से-छोटे सरकारी काम के लिए हमें रिश्वत देनी पड़ती है। अभी तो निजी कम्पनियों की छोटी-मोटी नौकरी के लिए भी हमें बीस से तीस हज़ार रुपए ठेकेदार को देने पड़ते हैं और तब भी नौकरी रहेगी या नहीं उसकी कोई गारण्टी नहीं होती। महँगाई ने किस कदर आम जनता की कमर तोड़ दी है इसका अन्दाज़ इस बात से लगाया जा सकता है कि उनकी कमाई का आधे से अधिक हिस्सा मात्र खाने-पीने पर खर्च हो जा रहा है। भोजन के अलावा बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, किराया आदि भी होते हैं। इन सब का खर्च इस महँगाई में उठा पाना लोगों के लिए बेहद कठिन होता जा रहा है।

कुल मिल कर हम कह सकते हैं कि हमारा ध्यान अपनी जिन्दगी की असल समस्याओं की ओर न जाए इसलिए देश में अन्ध-राष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की राजनीति हो रही है। संघ परिवार और भाजपा की इस राजनीति को बहुत लोग समझने भी लगे हैं। लेकिन भाजपा अलग-अलग स्वांग रच कर इन्हीं पत्तों को खेलेगी। नूह में दंगों के समय यह साफ़ हो गया है की 2024 के लोकसभा चुनावों के पहले भाजपा और संघ परिवार देश को दंगों की आग में झोंकने की योजना बना रही है। इन्हें हमेशा इस बात की उम्मीद रहती है कि अन्धराष्ट्रवाद का कार्ड हमेशा काम आता है। पाकिस्तान के खिलाफ़, चीन के खिलाफ़, सेना के नाम पर जनता को मूर्ख बनाने की कोशिश की जाती है। लेकिन इस बार जनता को सावधान रहना होगा।

भाजपा काल में हुए तमाम हमलों और घुसपैठ का इतिहास निकाल लें सब में दाल में कुछ काला या कहें पूरी की पूरी दाल काली मालूम पड़ती है। अब तो यह बात हम नहीं बल्कि भाजपा के करीब रहे और कई राज्यों के राज्यपाल रहे सत्यपाल मलिक भी कह रहे हैं। चाहे कारगिल युद्ध हो, पुलवामा हमला या चीन के साथ सीमा विवाद। कारगिल के समय सीमा में हो रहे घुसपैठ को नज़रअन्दाज़ किया गया और पुलवामा की सच्चाई सत्यपाल मलिक ने एक साक्षात्कार में बात ही दिया कि चलीस कान्स्टेबलों की जान को आसानी से बचाया जा सकता था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। अब हमें दुबारा से किसी पुलवामा या आतंकवादी हमले के बहकावे या उन्माद में नहीं फँसना होगा। यह समझ लीजिये कि ऐसी कोई घटना होती है, तो उसमें लापरवाही और सुरक्षा के इन्तज़ामात न करने के लिए सरकार को ही ज़िम्मेदार माना जाना चाहिए और जनता को अपने असल मुद्दों मसलन बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार से टस-से-मस नहीं होना चाहिए।

हमें कुछ चीजें गाँठ बाँध कर याद कर लेनी चाहिए। अभी से लेकर चुनावों तक ऐसी किसी भी लहर में नहीं बहना है जो धर्म पर खतरा या किसी देवी-देवता के अपमान की बात करती हो, मन्दिर-मस्जिद की बात करती हो, पाकिस्तान-चीन का हल्ला मचाती हो; ये सारे संकट, अपमान, और खतरा चुनावों के टाइम इतना बढ़ क्यों जाता है हमें यह सोचना है। आतंकवादी की परिभाषा संघ ने ‘मुसलमान’ बना दी है। भाजपा के दंगाई सांसद रमेश बिधूड़ी सांसद में खड़े होकर एक मुस्लिम सांसद को आतंकवादी कहता है, अश्लील गालियाँ देता है। मतलब अन्धराष्ट्रवाद की लहर के ज़रिये एक तीर से दो निशाना लगाना है। सेना की कुर्बानी के नाम पर राजनीति और साथ में देश के मुसलमानों को आतंकवादी और पाकिस्तान समर्थक बात कर दंगे भड़काना। जनता को इस षड्यन्त्र को समझना होगा। ये सारा साम्प्रदायिक और दंगाई खेल मोदी सरकार इसलिए खेल रही है क्योंकि पिछले 10 साल में वह हर मोर्चे पर नाकाम रही है और मेहनतकश जनता के जीवन को उसने नर्क बना दिया है।

वैसे तो गोदी मीडिया की पोल लोगों के सामने खुलने लगी है और इनकी जगह लोग स्वतन्त्र न्यूज़ चैनल और पत्रकारों को देखना ज्यादा पसन्द कर रहे हैं। लेकिन फिर भी आपको कुछ पैमाने दे रहे हैं जिसके आधार पर आप किसी भी किस्म के उन्माद को फैलाये जाने की साज़िश को पहचान सकते हैं। आम तौर पर, इत्तेफ़ाक से ऐसी घटनाएँ तब-तब हो ही जाया करती हैं, जब भाजपा की कोई सरकार अलोकप्रिय हो जाती है या संकट में होती है:

सीमा पर विवाद - हो सकता है की जल्द ही खबर आये की पाकिस्तानी सेना सीमा पर घुसपैठ का प्रयास कर रही है। फिर ज़ी न्यूज़ से लेकर आज तक, टाइम्स नाओ, रिपब्लिक टीवी आदि मोदी से बदले की माँग करने लगेंगे। भृकुटियाँ चढ़ा कर पाकिस्तान को मज़ा चखाने, सबक सीखने की बात दुहराने लगेंगे। आप समझ जाइये कि आपका ध्यान भटकाने की कोशिश की जा रही है और अपने असल मसलों पर अड़ जाइये।

आतंकवादी हमला - किसी शहर, मन्दिर या बाज़ार पर आतंकवादी हमला हो सकता है, जिसकी आशंका खुद भाजपा के करीबी रहे सत्यपाल मलिक ने जतायी है। सत्यपाल मलिक ने खुद ही कहा है कि 2024 में अपनी हार की आशंका को देखते हुए बौखलाहट में संघ परिवार और भाजपा किसी भी हद तक जा सकते हैं। ऐसा कुछ होने पर भी गोदी मीडिया चीख-चीख कर बदला, बदला दुहराएगी, मुसलमानों को निशान बनाएगी। लेकिन चाहे कोई कुछ भी बोले आप झाँसे में मत आइयेगा और अपने असल मसलों से मत डिगियेगा।

पाकिस्तान के कब्ज़े वाले कश्मीर को भारत में मिलने की बात - कश्मीर के पूरे भूभाग को अपना बनाने का उन्माद गोदी मीडिया में सीमा के विवाद और आतंकवादी हमले के दौरान उठाया जाता है। यह सीधे-सीधे युद्ध शुरू करने की माँग है। युद्ध होने की स्थिति में सीमा पर मरने वाले गरीब किसानों और मज़दूरों के बेटे-बेटियाँ ही होते हैं। लेकिन युद्ध पूँजीपतियों के लिए व्यापार होता है। अक्सर ही संकटग्रस्त शासक युद्धोन्माद के ज़रिये सत्ता में वापसी का प्रयास करते हैं। वाजपेयी की संकटग्रस्त सरकार ने भी 1999 में यही किया था। इसलिए सावधान रहिये। आप को सरकार और गोदी मीडिया द्वारा कुछ भी बता दिया जाय, उस पर नादानी से भरोसा कर लेने की आदत छोड़ दीजिये। एक नियम बना लें: अगर सरकारी भोंपू और गोदी मीडिया कुछ कह रहे हैं, तो उस पर भरोसा मत कीजिये, राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय जनपक्षधर मीडिया व पत्रकारों के चैनलों आदि से इनके दावों की जाँच-पड़ताल करिये।

देवी-देवता का अपमान या गोहत्या का फर्जी शोर - संघ परिवार का सबसे प्रिय मुद्दा जिसके नाम पर लोगों को ये सड़कों पर मरवा देते हैं। जो भी देवी-देवता के अपमान या गोरक्षा के नाम पर उन्माद फैलाने की कोशिश करे उससे पहले पूछिये कि भाजपा केरल, गोवा और उत्तर-पूर्व के राज्यों में भाजपा गोमांस की सप्लाई को बढ़ाने की बात क्यों कर रही है? समझ लीजिये कि ये भी आपको बेवकूफ़ बनाने के मसले हैं।

लव जिहाद, लैण्ड जिहाद, और अन्य भाँति-भाँति किस्म के जिहाद जिनकी खोज भाजपा और संघ करती रही है उनसे भी बचना है। इनके नाम पर होने वाले सभी उन्मादी, भड़काऊ बातों और खबरों के आने पर समझ लें चुनाव नज़दीक है और आपको आपके असली मसलों से भटका कर फर्जी उन्माद में बहाने और धार्मिक ध्रुवीकरण के आधार पर चुनाव जीतने की साज़िश की जा रही है, जिस में आपको न तो रोज़गार मिलेगा और न ही महँगाई से छुटकारा और आपका जीवन उतना की कष्टदायी बना रहेगा जिनता है या उससे भी ज़्यादा तकलीफ़देह बन जायेगा।

फ़ासीवादी भाजपा के शासन का मतलब है आम मेहनतकश जनता की तबाही-बरबादी। आप स्वयं पिछले 10 साल के बारे में सोचिये। भाजपा के दो कार्यकाल हम मजदूरों-मेहनतकशों के लिए कैसे बीते हैं उसे हमसे बेहतर कौन जनता है? रिकार्डतोड़ महँगाई, बेरोज़गारी और भ्रष्टाचार इसके अलावा शिक्षा का निजीकरण, अस्पतालों का खस्ता हाल यही है भाजपा के शासन की रिपोर्ट कार्ड। भाजपा का एक और कार्यकाल का मतलब होगा हमारी भयंकर तबाही और बर्बादी। यह भी याद रखिये कि किसी और पार्टी या गठबन्धन की सरकार भी हमारे मसलों पर कोई कदम अपने आप नहीं उठाने वाली क्योंकि सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ मालिकों, ठेकेदारों और धनपतियों की सेवा करती हैं। अपने रोज़गार के अधिकार और महँगाई से मुक्ति के लिए संघर्ष को हम तभी आगे बढ़ा सकते हैं जबकि अपना क्रान्तिकारी जनान्दोलन खड़ा करें जो इन मसलों पर ठोस माँगों के साथ पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्ष करे।

ब्रिक्स और जी-20 शिखर सम्मेलनों में साम्राज्यवाद के बदलते समीकरणों की अनुगूँजें

● आनन्द

गत 22 से 24 अगस्त के बीच दक्षिण अफ़्रीका के जोहानेस्बर्ग शहर में ब्रिक्स शिखर सम्मेलन और 9 से 10 सितम्बर के बीच नई दिल्ली में जी-20 शिखर सम्मेलन आयोजित हुआ। जी-20 शिखर सम्मेलन के दौरान आयोजक भारत की सरकार ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा एक पृथ्वी, एक परिवार, एक भविष्य के जुमलों का जमकर इस्तेमाल किया। इन्हें जुमले कहना इसलिए सही होगा क्योंकि इस तरह के सम्मेलनों को क़रीबी से देखने पर हम पाते हैं कि ये दुनिया में एकता, शान्ति, भाइचारे व सौहार्द्र की नहीं बल्कि दुनिया में बढ़ती अशान्ति, तनाव व टकराहटों की कहानी बयान करते हैं। इसलिए ऐसे सम्मेलनों की असली कहानी जानने के लिए इनकी सौहार्दपूर्ण आधिकारिक घोषणाओं, औपचारिक बयानों और मीडिया में की जा रही लफ़्फ़ाजियों के पीछे छिपी साम्राज्यवादी-पूँजीवादी ताक़तों के बीच की खींचतान, रस्साकशी व कूटनीतिक उठापठक को समझना ज़रूरी है। यह उठापठक वास्तव में साम्राज्यवादी विश्व के समीकरणों में आ रहे बदलावों और उसके अन्तरविरोधों के तीखे होने की ही अभिव्यक्ति है।

1990 के दशक की शुरुआत में सोवियत यूनियन के पतन के बाद करीब एक दशक तक दुनिया एकध्रुवीय प्रतीत होती थी जिसमें मानो अमेरिकी साम्राज्यवाद को टक्कर देने वाली कोई शक्ति मौजूद ही नहीं थी। इस आभासी यथार्थ को वास्तविक यथार्थ समझते हुए प्रभात पटनायक जैसे कई सामाजिक जनवादी विश्लेषकों ने अन्तरविरोध से मुक्त साम्राज्यवाद की बात करनी शुरू कर दी थी। लेकिन नई सदी आते-आते परिस्थितियाँ बदलती दिखने लगती हैं और साम्राज्यवाद के अन्तरविरोध सतह पर भी नज़र आने लगते हैं। रूस का सुदृढ़ीकरण होता है और चीन का तीव्र पूँजीवादी विकास होता है तथा रूस व चीन के रूप में दूसरी साम्राज्यवादी धुरी अस्तित्व में आती है। वहीं दूसरी ओर अमेरिकी साम्राज्यवाद की आर्थिक शक्तिमत्ता का ह्रास होता है जो 2007 से शुरू हुई वैश्विक मन्दी से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। इसी के साथ विकसित पूँजीवादी देशों के आर्थिक ब्लॉक जी-7 (अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, इटली, जापान) की ताक़त में भी कमी आती दिखती है तथा दूसरी ओर ब्रिक्स (ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन और दक्षिण अफ़्रीका) का दूसरा ब्लॉक अस्तित्व में आता है। जी-20, ब्रिक्स से पहले ही अस्तित्व में आ चुका था, लेकिन ब्रिक्स के अस्तित्व में आने और उसकी प्रभाविता बढ़ने की वजह से जी-20 की प्रभाविता कम होने लगी। ग़ौरतलब है कि रूस और चीन भी जी-20 देशों में शामिल हैं, परन्तु उनकी जी-7 से प्रतिद्वंद्विता की वजह से जी-20 की प्रासंगिकता समय के साथ कम होती गयी है।

वर्तमान विश्व में दो साम्राज्यवादी ध्रुवों की होड़ की कूटनीतिक अभिव्यक्ति जी-7 देशों और ब्रिक्स में शामिल देशों के बीच देखने को मिल रही है जो ब्रिक्स व जी-20 के शिखर सम्मेलनों में साफ़ तौर पर देखने में आयी। इस बार ब्रिक्स शिखर सम्मेलन में एक महत्वपूर्ण फ़ैसले के तहत 6 नए देशों – सऊदी अरब, यूएई, मिस्र, ईरान, अर्जेण्टीना और इथोपिया – को शामिल कर लिया। इसके अलावा भविष्य में इस समूह में अल्जीरिया, नाइजीरिया, इण्डोनेशिया, तुर्की और वियतनाम जैसे देशों के भी शामिल होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त ब्रिक्स के शिखर सम्मेलन में सदस्य देशों ने एक-दूसरे की मुद्रा में विदेशी व्यापार करने पर भी सहमति जतायी। यह स्पष्ट रूप से विश्व व्यापार में अमेरिकी साम्राज्यवाद के दबदबे को खुली चुनौती है क्योंकि इससे डॉलर की स्थिति कमज़ोर होगी।

अमेरिकी साम्राज्यवाद के बरक्स दूसरी साम्राज्यवादी धुरी के दो मुख्य स्तम्भ रूस और चीन ब्रिक्स को ज़्यादा तरजीह दे रहे हैं। जी-20 में उनकी मौजूदगी महज़ औपचारिक रह गयी है और आने वाले वर्षों में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा तीखी होने पर वे उससे बाहर भी निकल सकते हैं। जी-20 के प्रति उनका रुख इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ एक ओर अमेरिकी साम्राज्यवादी खेमे में शामिल देशों के राष्ट्राध्यक्षों व शीर्ष नेताओं ने नई दिल्ली शिखर सम्मेलन में शिरकत की वहीं रूस के राष्ट्रपति व्लादिमीर पुतिन व चीन के राष्ट्रपति शी जिनपिन ने इसमें शामिल नहीं होने का फ़ैसला किया और सापेक्षत: कनिष्ठ नेताओं को भेजा।

रूस व चीन जैसे देश इस समूह से पूरी तरह अलग न हो जाएँ और जी-20 समूह का औपचारिक तौर पर विघटन न हो जाए इसके लिए भारत के पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि मोदी सरकार व उसके अधिकारियों ने एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया। दुश्मनाना सम्बन्ध रखने वाली साम्राज्यवादी ताक़तों के बीच आम सहमति बनाने के लिए सम्मेलन द्वारा जारी संयुक्त घोषणा को जानबूझकर इतना सामान्य रखा गया कि हर पक्ष उसकी अपने हिसाब से व्याख्या कर सकता है और अपनी जीत का दावा कर सकता है। घोषणा में सीधे तौर पर रूस-यूक्रेन युद्ध का कोई ज़िक्र ही नहीं है। उसमें कहा गया है कि ''सभी राज्य किसी अन्य राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता व सम्प्रभुता के ख़िलाफ़ जाकर उनपर क़ब्ज़ा करने के लिए धमकी या ताक़त का इस्तेमाल करने से बचेंगे।'' स्पष्ट है कि यूक्रेन में जारी विनाशकारी युद्ध पर अपनी अवस्थिति रखने की बजाय ऐसा शब्दाडम्बर जानबूझकर रचा गया है ताकि पश्चिमी साम्राज्यवादी देश कह सकें कि यह रूस के ख़िलाफ़ लिखा गया है और रूस कह सकता है कि यह पश्चिमी देशों के ख़िलाफ़ लिखा गया है क्योंकि इसमें रूस का नाम लेकर उसकी भर्त्सना नहीं की गयी है। इसी प्रकार शिखर सम्मेलन के दौरान जलवायु परिवर्तन जैसे विवादास्पद मुद्दे पर भी पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों और तथाकथित ग्लोबल साउथ के पूँजीवादी देशों के बीच तनाव व तू-तू-मैं-मैं की स्थिति देखने में आयी। इस मुद्दे पर भी आम सहमति दिखाने के लिए किसी समय सीमा के भीतर कोई ठोस क़दम उठाने का फ़ैसला लेने की बजाय महज़ सामान्य रूप से वैकल्पिक ऊर्जा के स्रोतों पर ज़ोर देने की बात कहीं गयी है। तमाम विवादास्पद मुद्दों पर इस प्रकार की इरादतन अस्पष्टता भारत जैसे सापेक्षिक रूप से पिछड़े पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत है क्योंकि वह साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में किसी एक खेमे में शामिल होकर किसी एक साम्राज्यवादी ताक़त का पिछलग्गू बनने की बजाय दोनों साम्राज्यवादी धुरियों के साथ सम्बन्ध बरकरार रखते हुए अपने मोलभाव की ताक़त को बढ़ाना चाहता है।

भारत का पूँजीपति वर्ग जब विश्व बन्धुत्व की बातें करता है तो उसके पीछे उसका अपना हित छिपा होता है, न कि समूची मानवता का! दोनों साम्राज्यवादी खेमों के साथ सम्बन्धों को बरकरार रखना उसके हित में है। यह सच्चाई रूस-यूक्रेन युद्ध में खुलकर सामने आयी। अमेरिका व पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के निरन्तर दबाव के बावजूद भारत के पूँजीपति वर्ग ने रूस के साथ सम्बन्धों को तोड़ने और उसपर प्रतिबन्ध लगाने की बजाय उसके साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध बनाए रखे और उससे तेल को खरीदना जारी रखा क्योंकि यह उसके हित में था। सामरिक खेमेबन्दी में भी भारत के पूँजीपति वर्ग ने दोनों खेमे में अपनी मौजूदगी बनाए रखी है। एक तरफ़ वह शंघाई कोऑपरेशन ऑर्गनाइज़ेशन का हिस्सा है तो दूसरी तरफ़ वह अमेरिका, ब्रिटेन व जापान के साथ क्वाड में भी शामिल है। इस नंगी सच्चाई से आँख मोड़कर ही कोई भारत के पूँजीपति वर्ग को दलाल कह सकता है। लेकिन भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की यह त्रासदी ही कही जाएगी कि आज भी अधिकांश कम्युनिस्ट संगठन व पार्टियाँ भारत के पूँजीपति वर्ग को दलाल या कम्प्राडोर मान रही हैं।

आज की दुनिया के साम्राज्यवादी समीकरणों को पुराने सूत्रीकरणों में जबरन फ़िट करके समझा ही नहीं जा सकता, इसका एक अन्य उदाहरण हम सऊदी अरब के मामले में देख सकते हैं। सऊदी अरब ऐतिहासिक रूप से अमेरिकी खेमे का हिस्सा माना जाता रहा है। परन्तु ब्रिक्स में उसका शामिल होना यह दिखाता है कि वह भी अमेरिका की कठपुतली नहीं है। वहाँ के पूँजीपति वर्ग ने अपने हित को सर्वोपरि रखा और उसे अमेरिका के दुश्मन खेमे के समूह में शामिल होने से कोई गुरेज़ नहीं हुआ। यही नहीं वह अमेरिकी ट्रेज़री बॉण्ड्स को बेचकर पेट्रोडॉलर पर अपनी निर्भरता को भी कम कर रहा है और युआन जैसी मुद्रा में व्यापार करने के लिए राज़ी हो रहा है।

आज के साम्राज्यवादी विश्व के समीकरणों की जटिलता चीन व भारत के बीच के आपसी कटुतापूर्ण सम्बन्धों की वजह से भी बढ़ रही है। पिछले कुछ वर्षों में दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद तीखा हुआ है जो हिंसक झड़पों में भी तब्दील हुआ है। ब्रिक्स शिखर सम्मेलन के समापन के फ़ौरन बाद भारतीय मीडिया में यह ख़बर सुर्खियों में रही कि चीन ने एक नक्शा जारी किया है जिसमें उसने अरुणाचल प्रदेश और अकसाइ चीन को अपना हिस्सा दिखाया है। अमेरिकी साम्राज्यवादी खेमा दोनो पड़ोसी देशों के बीच इस कटुतापूर्ण सम्बन्ध का लाभ उठाते हुए भारत को अपने खेमे की ओर खींचने की लगातार कोशिश करता आया है। इसी कोशिश का एक उदाहरण हमें जी-20 शिखर सम्मेलन में दिखी जब 8000 किमी वाले भारत-मध्यपूर्व-यूरोप समुद्र-रेलमार्ग-सड़क कॉरिडोर के निर्माण की घोषणा की गयी। यह भारत, मध्यपूर्व व यूरोप को समुद्र, रेल व सड़क मार्ग से जोड़ने वाला एक व्यापक परिवहन नेटवर्क बनाने की महत्वकांक्षी योजना है जिसे भविष्य में अफ़्रीका तक भी बढ़ाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जी-20 शिखर सम्मेलन में एक अन्य फ़ैसले के तहत अफ़्रीकन यूनियन को भी जी-20 की सदस्यता दी गयी है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि अफ़्रीका के कई देश या तो ब्रिक्स समूह में भी शामिल हैं या फिर शामिल होने का आवेदन किया है।

ग़ौरतलब है कि भारत-मध्यपूर्व-यूरोप कॉरिडोर की योजना चीन की बेल्ट एण्ड रोड इनीशिएटिव (बीआरआई) के जवाब में बनायी गयी है। चीन से अपनी प्रतिद्वंद्विता की वजह से भारतीय शासक वर्ग ने चीन की योजना बीआरआई में शामिल नहीं होने को फ़ैसला किया था। अमेरिका व यूरोपीय संघ द्वारा प्रस्तावित इस योजना में भारत का शामिल होना भी यह दिखाता है कि भारत का शासक वर्ग अपने हित में विभिन्न मुद्दों पर दोनों साम्राज्यवादी खेमों में किसी के भी साथ खड़ा हो सकता है।

चाहे यूक्रेन में जारी युद्ध हो या फिर दक्षिण चीन सागर व ताईवान में चीन व अमेरिका के बीच जारी तनाव हो, ये सभी आज के साम्राज्यवादी विश्व में दो साम्राज्यवादी खेमों के बीच जारी होड़ को ही दिखा रहे हैं। आने वाले दिनों में प्रबल सम्भावना इस बात की है कि यह होड़ और अधिक विध्वंसक रूप लेगी। इसी होड़ की अभिव्यक्ति ही हमें ब्रिक्स व जी-20 जैसे मंचों पर जारी कूटनीतिक रस्साकशी के रूप में दिखती है। इसलिए मज़दूर वर्ग को इन सम्मेलनों में शासक वर्गों द्वारा शान्ति व सौहार्द की फ़रेबी बयानबाज़ी के झाँसे में आने की बजाय इन्हें साम्राज्यवाद के अन्तरविरोधों के विकास की प्रक्रिया के रूप में देखना चाहिए। साथ ही हमें आज की ठोस सच्चाईयों को पुराने सूत्रीकरणों में जबरन फ़िट करने की बजाय खुले दिमाग़ से आज की परिस्थितियों को अध्ययन करना होगा। केवल तभी हम इस साम्राज्यवादी दुनिया को क्रान्तिकारी दिशा में बदलने की दिशा में कारगर क़दम उठा सकेंगे।

> ''आधुनिक राज्यों के बुनियादी क़ानूनों को लीजिए, उनके प्रशासन को लीजिए, सभा करने की आज़ादी को लीजिए, प्रेस की आज़ादी को लीजिए, या फिर ''क़ानून के सामने सभी नागरिकों की समानता'' को ले लीजिए, और आप हर मोड़ पर पूँजीवादी लोकतंत्र के उस पाखण्ड के साक्ष्य देखेंगे जिससे हर ईमानदार और वर्ग-सचेत मज़दूर परिचित होता है। एक भी ऐसा राज्य नहीं है, चाहे जितना भी लोकतांत्रिक क्यों न हो, जिसके संविधान में ऐसे छेद या प्रावधान न हों जो कि बुर्जुआ वर्ग को मज़दूरों के ख़िलाफ़ सेना भेजने, मार्शल लॉ लागू करने या ऐसी ही अन्य सम्भावनाओं की गारण्टी न देता हो – कहने को ''सार्वजनिक व्यवस्था के उल्लंघन'' की स्थिति में, और वास्तव में ऐसी स्थिति में जब शोषित वर्ग ग़ुलामी की अपनी हालत का ''उल्लंघन'' करता है और ग़ुलामों के ढंग से हटकर आचरण करने की कोशिश करता है।''
>
> **– लेनिन**

जनता के जनवादी अधिकारों पर आक्रामक होता फ़ासीवादी मोदी सरकार का हमला और इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

(पेज 1 से आगे)

वाली हैं। पश्चिम बंगाल में ममता बनर्जी के रहते भाजपा ज़्यादा सीटें जीतने की कोई ख़ास उम्मीद भी नहीं कर रही है। जिन राज्यों से भाजपा की सीटों का ज़्यादा हिस्सा आया है वे हैं उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, मध्य प्रदेश और कर्नाटक और साथ ही कुछ छोटे राज्य जैसे हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, असम और उत्तराखण्ड। इन जगहों पर पिछले लोकसभा चुनावों में विपक्ष का लगभग सफ़ाया ही हो गया था। इन राज्यों में भाजपा एकदम शीर्ष पर थी, जिससे ऊपर अब जाया नहीं जा सकता है। बिहार में जद (यू) और अविभाजित लोजपा के साथ रहने के कारण भाजपा को 40 में से 39 सीटें मिली थीं; गुजरात में 26 की 26 सीटें भाजपा जीती थी; हरियाणा की 10 की 10 सीटें भाजपा के खाते में गयी थीं; हिमाचल की 4 की 4 सीटें भाजपा ने जीती थीं; कर्नाटक में 28 में से 26 सीटें भाजपा के हिस्से गयीं थीं; मध्यप्रदेश की 29 में से 28 सीटें भाजपा जीतने में सफल रही थी; महाराष्ट्र की 48 में 41 सीटें अविभाजित शिवसेना के साथ रहने के कारण भाजपा ने जीती थीं; राजस्थान की 25 की 25 सीटें भाजपा की झोली में गयी थीं; और उत्तर प्रदेश में भाजपा के गठबन्धन के खाते में 80 में से 64 सीटें गयीं थीं।

अब इन राज्यों में भाजपा की क्या स्थिति है, जिनके बूते भाजपा को भारी बहुमत मिला था? महाराष्ट्र में भाजपा की सीटों में स्पष्ट तौर पर कमी आयेगी। राजस्थान में भाजपा अपनी सीटों को बढ़ा नहीं सकती क्योंकि पिछली बार वह सारी सीटें जीती थी और इस बार चुनाव विश्लेषकों को अनुमान है कि उसकी सीटों में 10 से 12 की कमी आयेगी। मध्यप्रदेश में भी उसकी सीटों में कम-से-कम 10 से 15 सीटों की कमी आने का अनुमान है। इसी प्रकार कर्नाटक में भी कम-से-कम 8 से 10 सीटों की कमी आने का आकलन तमाम विश्लेषक लगा रहे हैं। हरियाणा में भी पहले की तरह सारी 10 सीटें जीतना भाजपा के लिए मुश्किल है और वहाँ भी 4 से 5 सीटों की कमी आने की सम्भावना ज़्यादा है। बिहार में लगभग तय ही है कि भाजपा के गठबन्धन को आधी सीटें भी मिलना मुश्किल है। यानी करीब 20 सीटों की कमी। पश्चिम बंगाल में भाजपा ने 42 में से 18 सीटें जीती थीं, लेकिन उसमें भी कमी आने की आशंका भाजपा नेतृत्व को सता रही है। बढ़ने की सम्भावना तो नगण्य है, यह भाजपा का नेतृत्व भी जानता है। दिल्ली में भी 7 की 7 सीटें फिर से जीत पाना भाजपा के लिए मुश्किल है, क्योंकि आप और कांग्रेस के साथ चुनाव लड़ने पर स्थिति एकदम अलग होगी।

दक्षिण भारत में कहीं भाजपा की सीट बढ़ने वाली नहीं है और वह कुल मिलाकर बांह मरोड़कर जगन और चन्द्रशेखर राव को समर्थन देने पर मजबूर करने पर उम्मीदें लगाये है, लेकिन उसकी कोई गारण्टी नहीं है। इतना स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में कर्नाटक को छोड़कर भाजपा कहीं ज़्यादा ज़ोर लगाने के बारे में सोच भी नहीं रही है।

अगर बेहद उदार आकलन भी करें तो भाजपा उपरोक्त राज्यों में सीटों में सम्भावित कटौती के कारण 303 सीटों के आँकड़े से सीधे 240 या 250 पर आ सकती है। ऐसे में, तीन सम्भावनाएँ होंगी। ख़रीद-फ़रोख़्त और राज्यसत्ता के निकायों पर भीतरी पकड़ के कारण वह साम-दाम-दण्ड-भेद के ज़रिये सांसदों और छोटी पार्टियों का समर्थन हासिल करके किसी तरह से बहुमत के आँकड़े तक पहुँच जाये और फिर से सरकार बनाये। दूसरी सम्भावना यह है कि ऐसा समीकरण बैठ न पाये और विपक्षी महागठबन्धन की सरकार बने। तीसरी सम्भावना यह है कि कुछ क्षेत्रीय पूँजीवादी दलों द्वारा निष्पक्ष स्थिति अपनाये जाने पर अल्पसंख्यक सरकार बने, जिस प्रकार नरसिंह राव की सरकार बनी थी, जिसमें कांग्रेस को 232 सीटें मिली थीं और अन्य पार्टियों के समर्थन के साथ भी उसके पास कुल 256 सीटें ही थीं।

उत्तर प्रदेश, गुजरात और उत्तराखण्ड में भाजपा की सीटों में कोई ज़्यादा कमी नहीं आने वाली है, आपवादिक स्थिति में उत्तर प्रदेश में कुछेक सीटों की बढ़ोत्तरी भी हो सकती है। इसलिए हमने उनकी गणना ही नहीं की है।

उपरोक्त आकलनों के कारण भाजपा को हार की आशंका सता रही है। उपरोक्त स्थितियाँ तब हो सकती हैं, जब भाजपा कुछ ऐसे कदम न उठाये जो संकट में पड़ने पर वह उठाती है, जैसा कि सत्यपाल मलिक ने आशंका जतायी है। मसलन, जनवरी में उद्घाटन के लिए तैयार राम मन्दिर पर कोई हमला, कोई आतंकी घुसपैठ, पुलवामा जैसी कोई घटना, आदि। ज़ाहिर है, ये सारी चीज़ें हमेशा इत्तेफ़ाक होती हैं और संकटग्रस्त भाजपा सरकारों की झोली में गिर जाती हैं, जैसे कि कारगिल घुसपैठ और युद्ध, पुलवामा की घटना, इत्यादि! ऐसी कोई घटना होने की सूरत में हमने जिस स्थिति का आकलन ऊपर किया है, वह निश्चय ही बदल सकती है।

इसके अलावा, ईवीएम के खेल के ज़रिये भी नतीजों को बदलने का प्रयास भाजपा कर सकती है। बस दिक्कत यह है कि यह खेल बहुत बड़े पैमाने पर खेले जाने के अपने ख़तरे हैं। यह केवल पारम्परिक तौर पर हार-जीत के बेहद छोटे अन्तर रखने वाली कुछ सीटों ('स्विंग सीटों') पर सुरक्षित तौर पर खेला जा सकता है। उससे आगे इस खेल को खेलने पर जनप्रतिक्रिया आने की सम्भावना होगी, जिससे संघ परिवार बचना चाहेगा। और आखिरी दाँव नये सिरे से मथुरा-काशी में मन्दिर-मस्जिद का मुद्दा उठाना है, जिसपर संघ परिवार लगा हुआ है, लेकिन इस बार यह मुद्दा उस तरह हवा नहीं पकड़ पा रहा है, जिसकी उम्मीद भाजपा व संघ परिवार को है। 'लव जिहाद' और 'गोरक्षा' की पोल भी जनता के अच्छे-ख़ासे हिस्से में खुली है इसलिए उसे पहले की तरह असरदार बनाना संघ परिवार के लिए मुश्किल है। इसलिए चुनाव से पहले भाजपा सरकार तरह-तरह की आर्थिक राहत, रियायतें आदि देने का प्रयास कर सकती है और कर ही रही है। लेकिन अब इसके लिए भी थोड़ी देर हो गयी है।

सच्चाई यह है कि 25 से 27 प्रतिशत वोटर जिनका व्यवस्थित साम्प्रदायीकरण हुआ है, वे तो मोदी-नीत भाजपा को ही वोट करेंगे। यह वह हिस्सा है, जो किसी बड़ी तबाही के बाद ही होश में आता है। लेकिन इतने के बूते चुनाव जीत पाना सम्भव नहीं है। 33 से 39-40 प्रतिशत वोट के बूते भाजपा द्वारा दो चुनाव जीते जाने का एक गौण कारण यह भी था कि विपक्षी पूँजीवादी पार्टियाँ बिखरी हुई रही हैं और पूँजी की ताक़त के बूते और राजकीय एजेंसियों द्वारा आतंकित करके भाजपा उनको इसी बिखराव में रखती रही है, हालाँकि अधिकांश विपक्षी पार्टियों को पता है कि मोदी-शाह जोड़ी विपक्ष को पूरी तरह समाप्त करने के प्रयासों में लगी हुई है। जब वजूद का ख़तरा एक स्तर को पार कर गया तो विपक्षी पार्टियों में से अधिकांश ने 'इण्डिया' गठबन्धन बनाया। इसे भी भाजपा सरकार लगातार साम-दाम-दण्ड-भेद से तोड़ने की कोशिश कर रही है। इन कोशिशों से यह तो स्पष्ट है कि पूँजीवादी राजनीति के दायरे में भाजपा इससे परेशान और चिन्तित है। वजह यह कि 65 फीसदी वोटर जो भाजपा को वोट नहीं करते, अगर वे भाजपा के विरोध में खड़े किसी एक विपक्षी उम्मीदवार को केवल 300 सीटों में भी वोट करें तो भाजपा के लिए भारी दिक्कत पैदा हो जायेगी।

इस स्थिति से बचने के लिए भाजपा विशेष तौर पर उत्तर भारत में जिन उपकरणों का इस्तेमाल करती रही है उनमें दो प्रमुख हैं: आम आदमी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी। इसमें से पहला उपकरण बेकार हो चुका है और इसीलिए भाजपा सरकार आम आदमी पार्टी को विशेष तौर पर राजकीय एजेंसियों का निशाना बना रही है। मायावती की बहुजन समाज पार्टी सबसे निकृष्ट किस्म की मौकापरस्त पार्टी है। इसलिए भाजपा भी उस पर पूरी तरह विश्वास करके नहीं चल सकती, हालाँकि अभी वह उत्तर प्रदेश में भाजपा के 'गेम प्लान' के अनुसार ही चल रही है। लेकिन यह स्थिति चुनाव के ठीक पहले बदल सकती है और अगर ऐसा होता है, तो उत्तर प्रदेश में भी भाजपा की स्थिति पहले के मुकाबले गड़बड़ हो जायेगी।

ज़ाहिर है, भाजपा की हार की आशंका काफ़ी वास्तविक और ठोस है, हालाँकि अभी भी 2024 में मोदी के जीतने की सम्भावना ज़्यादा है। लेकिन यह सम्भावना पिछले एक वर्ष में घटती रही है और अभी भी घट रही है और अभी 5 से 6 माह बाकी हैं।

आगे हम जिन तमाम नुक्तों पर चर्चा करेंगे, वह समझने के लिए कई साथियों को मदद की आवश्यकता हो सकती है। हम उनसे आग्रह करेंगे कि इस सम्पादकीय पर 'मज़दूर बिगुल' के अध्ययन मण्डलों में अपने संगठनकर्ताओं से बातचीत करें और समूची चर्चा को समझने में आने वाली कठिनाइयों को दूर करें।

अगर 2024 में भाजपा हारती है, तो उसका अर्थ क्या होगा?

अगर 2024 में भाजपा हारती है तो उसका अर्थ भारत में फ़ासीवाद की निर्णायक हार नहीं होगा। ऐसा जश्न 2004 और 2009 में भाजपा की हार पर तमाम संशोधनवादी, उदारवादी, सुधारवादी मना चुके हैं और 2014 में इसके नतीजे भी हम देख चुके हैं। फ़ासीवादी आन्दोलन आर्थिक संकट के बुनियादी अन्तरविरोध से पैदा होने वाली स्थितियों में पैदा हो सकता है। **इसका यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक संकट आने पर हर देश में फ़ासीवाद पैदा होता ही है।** वह पैदा होता है या नहीं यह इस पर निर्भर करता है कि आर्थिक संकट अपने आपको ***राजनीतिक संकट*** के रूप में, यानी ***राजनीतिक अन्तरविरोधों के एक सन्धि-बिन्दु*** के रूप में, पेश करता है या नहीं। आर्थिक संकट अपने आपको राजनीतिक अन्तरविरोधों के एक सन्धि-बिन्दु के रूप में पेश करेगा या नहीं, यह इस बात से नहीं तय होता है कि आर्थिक संकट कितना गहरा है। एक लम्बी मन्द मन्दी भी पूँजीपति वर्ग और टुटपुँजिया वर्ग में वह प्रतिक्रिया पैदा कर सकती है, जोकि पूँजीपति वर्ग के विशिष्ट आर्थिक हितों के सामूहिकीकरण के कार्यभार को पूरा करने में पूँजीवादी राज्यसत्ता की अक्षमता की स्थिति में फ़ासीवादी शक्तियों को सत्ता में पहुँचाने की ज़मीन तैयार कर सकता है। यह काफ़ी हद तक किसी देश की बुर्जुआजी के ऐतिहासिक चरित्र और प्रकृति पर भी आंशिक तौर पर निर्भर करता है, उस देश में सर्वहारा वर्ग के आन्दोलनों के इतिहास पर निर्भर करता है, उस देश में बुर्जुआ पक्ष व विपक्ष के बीच की गतिकी (डाइनैमिक्स) के इतिहास पर भी निर्भर करता है। केवल इन आधारों पर हम समझ सकते हैं कि आर्थिक संकट किन स्थितियों में राजनीतिक संकट में तब्दील होता है और किनमें नहीं। लेनिन के शब्दों में, एक राजनीतिक वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग को केवल अपने और बुर्जुआ वर्ग के सम्बन्धों को ही नहीं, बल्कि आम तौर पर सभी वर्गों के बीच मौजूद आपसी सम्बन्धों को समझना होता है। केवल तभी वह सही राजनीतिक विश्लेषण कर सकता है, राजनीतिक रणनीति व आम रणकौशल तय कर सकता है। यानी, आर्थिक संकट वास्तव में मुनाफ़े की दरों को 1929 की महामन्दी के स्तर तक नीचे ले गया है या नहीं, फ़ासीवादी शक्तियों के सत्ता में पहुँचने का इससे कोई सीधा रिश्ता नहीं है। इस प्रकार का विश्लेषण इस समय पंजाब का एक बचकाना ग्रुप ('ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप) पेश कर रहा है। उसका कहना है कि भारत में अभी मन्दी उतनी नहीं गहरायी है कि फ़ासीवाद आये! यानी, मन्दी के गहराने का कोई विशिष्ट स्तर है या मुनाफ़े की औसत दर के गिरने की कोई विशिष्ट सीमा है, जिसके बाद घण्टी बज जाती है और फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में पहुँच जाती हैं! यह भोण्डे और यान्त्रिक किस्म का अर्थवाद है।

हर देश में, जहाँ आर्थिक संकट हो, फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में नहीं पहुँच जाती हैं। मसलन, 1930 के दशक में पूँजीवादी विश्व के अधिकांश देश संकट के शिकार थे, लेकिन हर जगह फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में नहीं पहुँची। उसी प्रकार, इटली में मुसोलिनी तब सत्ता में पहुँचा था जबकि अभी कोई गम्भीर *आम आर्थिक संकट* मौजूद ही नहीं था, युद्ध के बाद मुद्रास्फीति और बेरोज़गारी की समस्या थी लेकिन वह अधिकांश युद्धरत देशों में पहले विश्वयुद्ध के बाद मौजूद थी। इतालवी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर को इस पूरे दौर में देखें तो वह अधिक नीचे नहीं गयी थी। वहाँ फ़ासीवाद के उदय के तीन प्रमुख कारण थे: युद्ध के बाद मुद्रास्फीति व बेरोज़गारी की समस्या (जो सभी युद्ध में शामिल हुए देशों में मौजूद थी), मज़दूर वर्ग का मज़बूत ट्रेड यूनियन आन्दोलन व क्रान्तिकारी प्रवृत्ति और उससे भी महत्वपूर्ण

जनता के जनवादी अधिकारों पर आक्रामक होता फ़ासीवादी मोदी सरकार का हमला और इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

(पेज 8 से आगे)

इतालवी बुर्जुआजी के विशिष्ट आर्थिक हितों का सामूहिकीकरण करने में इतालवी बुर्जुआ राज्य की असफलता, जिसके कारण सामूहिक वर्ग हितों के बजाय फैक्शनल (धड़ों के) वर्ग हित प्रधान बन गये थे, आपस में टकरा रहे थे और मज़दूरों व किसानों के आन्दोलन में दबाव में यह राजनीतिक संकट असमाधेय हो गया था। **इसे ही हम राजनीतिक अन्तरविरोधों का सन्धि-बिन्दु कहते हैं, जिसमें आर्थिक कारक केवल एक बुनियादी अन्तरविरोध की भूमिका ही निभा सकते हैं और अपने आप में आर्थिक संकट की गहराई या गम्भीरता की मात्रा फ़ासीवादी उभार को निर्धारित नहीं करती।** लेकिन 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप को विशेष तौर पर उसकी मूर्खता और अपढ़ता के लिए जाना जाता है, इसलिए इस प्रकार की अहमकाना थीसिस उनकी तरफ से पेश की गयी है, इसमें हमें कोई आश्चर्य भी नहीं है। इस सम्पादकीय लेख में उनकी थीसिस के कुछ अन्य मूर्खतापूर्ण पहलुओं पर भी हम आगे बात करेंगे और जल्द ही उनकी सम्पूर्ण थीसिस की विस्तृत लिखित आलोचना पेश करेंगे।

मुद्दे की बात यह है कि आर्थिक संकट और फ़ासीवादी शक्तियों के सत्ता में पहुँचने के बीच कोई दो-दुनाई-चार का यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं होता है। **यह बुनियादी अन्तरविरोध होता है, प्रधान अन्तरविरोध नहीं।** यह इस मूर्खतापूर्ण ग्रुप ('ललकार-प्रतिबद्ध') का बेहद भोण्डे किस्म का आर्थिक नियतत्ववाद है। कहने के लिए वह राजनीतिक संकट का नाम लेते हैं, मगर इस शब्द का ऐसे इस्तेमाल करते हैं, मानो यह आर्थिक संकट से स्वयंस्फूर्त ढंग से पैदा हो जाने वाली कोई चीज़ हो और न ही इस बात को समझा पाते हैं कि राजनीतिक संकट होता क्या है। इनके लिए वास्तव में इन दोनों में सारत: कोई बड़ा फर्क नहीं है, बल्कि एक (राजनीतिक संकट) दूसरे (आर्थिक संकट) की सीधी अभिव्यक्ति मात्र होती है। कोई भी मार्क्सवादी विज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि इससे भोण्डी अर्थवादी सोच और कोई नहीं हो सकती है।

यानी फ़ासीवाद के उभार और उसके सत्ता में पहुँचने की प्रक्रिया को समझने के लिए बुर्जुआ वर्ग व राज्यसत्ता के राजनीतिक संकट को समझना अनिवार्य है और इसके बिना आप न तो इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि 1930 के दशक में सभी आर्थिक संकट से ग्रस्त देशों में फ़ासीवाद सत्ता में क्यों नहीं पहुँचा और न ही इस बात की व्याख्या कर सकते हैं कि इटली में *आम आर्थिक संकट* (यानी मुनाफे की औसत दर के गिरने के संकट) के बिना ही फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में कैसे पहुँचीं?

बहरहाल, अगर 2024 में भाजपा चुनाव हारती है, तो मेहनतकश जनता और सर्वहारा वर्ग को यह नतीजा कतई नहीं निकालना चाहिये कि फ़ासीवादी शक्तियों की निर्णायक पराजय हो गयी। फ़ासीवादी शक्तियाँ पूँजीवादी व्यवस्था और उसके संकट के रहते और उसके संकट के राजनीतिक संकट में तब्दील होने की स्थिति के रहते, दोबारा सत्ता में पहुँचेंगी। यही 1980 के दशक के मध्य से भारत में होता रहा है। हर बार आर्थिक संकट के गहराने व उसके राजनीतिक संकट में तब्दील होने की स्थिति में फ़ासीवादी शक्तियाँ पहले से ज़्यादा आक्रामकता के साथ, पहले से ज़्यादा नग्न व बर्बर फ़ासिस्ट फ्यूहरर (सर्वोच्च नेता) के साथ सत्ता में पहुँचती रही हैं। अटल से आडवाणी और आडवाणी से मोदी तक की यात्रा में आप इसे देख सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि मोदी से आगे किसी और फ़ासिस्ट फ्यूहरर को शीर्ष में रखते हुए फ़ासीवादी शक्तियाँ 2024 में हार के बाद भी सत्ता में पहुँच सकती हैं।

पिछले 10 वर्षों को फ़ासीवादी शासन कहा जाय या न कहा जाय? स्पष्ट तौर पर पिछले 10 वर्षों का मोदी राज फ़ासीवादी शासन ही था। अगर 2024 में मोदी व भाजपा चुनाव हार भी जाते हैं, तो फ़ासीवादी शक्तियाँ केवल अस्थायी तौर पर सत्ता से च्युत होंगी और पूँजीवाद के आर्थिक व राजनीतिक संकट के रहते, केवल और अधिक आक्रामकता के साथ सत्ता में पहुँचने के लिए। इस बात को थोड़ा विस्तार से समझना आवश्यक है।

इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद : राज्य-परियोजना या बार-बार पड़ने वाला दौरा?

हमारे देश में कई ऐसे मार्क्सवादी संगठन व व्यक्ति हैं, जो यह मानते हैं कि भारत में अभी फ़ासीवादी शासन या सत्ता नहीं आयी है। उनका ऐसा मानने का यह आधार है कि अभी हिटलर या मुसोलिनी के शासन के समान कोई आपवादिक कानून नहीं लाये गये हैं, पूँजीवादी बहुदलीय संसदीय जनवाद की व्यवस्था अभी बनी हुई है, अभी यातना-शिविर नहीं बने हैं, समस्त राजनीतिक विपक्ष को अभी ग़ैर-कानूनी नहीं घोषित किया गया है, जनवादी चुनाव रद्द नहीं हुए हैं, इत्यादि। यानी, उनके अनुसार, फ़ासीवादी सत्ता हर-हमेशा एक नये प्रकार की राजनीतिक सत्ता होगी, रूप व अन्तर्वस्तु, दोनों ही अर्थों में। यानी, **वे तभी मोदी के शासन को फ़ासीवादी सत्ता का उदाहरण मानेंगे, जबकि इतिहास अपने आपको हूबहू दुहराये।** आइये समझते हैं कि क्यों इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं हो सकती है और क्यों आज फ़ासीवाद को एक राज्य-परियोजना होने की आवश्यकता नहीं है। 'राज्य परियोजना' का कई लोगों ने कुछ-कुछ भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है इसलिए यह स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि राज्य-परियोजना से यहाँ हमारा अर्थ है बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व के रूप को बदलना, यानी उसके सामान्य रूप बुर्जुआ जनवाद को भंग कर उसका एक आपवादिक रूप स्थापित करना।

पहली बात: फ़ासीवाद हमेशा राज्य-परियोजना के रूप में ही अवतरित होगा, यह कोई इतिहास का आम नियम नहीं है। पहले यह समझना अनिवार्य है कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में फ़ासीवाद के लिए राज्य-परियोजना के रूप में प्रकट होना क्यों अनिवार्य था। यानी, समूचे राज्य के रूप को ही बदल डालना फ़ासीवाद के लिए बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अनिवार्य क्यों था? या कहें कि बुर्जुआ बहुदलीय संसदीय जनवाद के विशिष्ट रूप को भंग करना उस समय के फ़ासीवादी उभार के लिए आवश्यक क्यों था? यह समझे बिना हनुमान-चालीसा की तरह यह दुहराते रहना कि 'फ़ासीवाद राज्य-परियोजना है, अभी भारत में फ़ासीवादी सत्ता नहीं आयी है', एक अहमकाना कठमुल्लावाद है। 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व ने कहीं यह पढ़ लिया है कि फ़ासीवाद राज्य-परियोजना के रूप में अस्तित्व में आया था और यह मान बैठे हैं कि फ़ासीवाद हर-हमेशा इसी रूप में सत्ता में पहुँचेगा! *इसे ही कठमुल्लावाद कहा जाता है। यानी, सिद्धान्त का वास्तविक स्थितियों से पीछे रह जाना और किसी का ऐसे सिद्धान्त से चिपके रह जाना। आइये समझते हैं कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में फ़ासीवाद एक राज्य-परियोजना क्यों था।*

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उन यूरोपीय देशों में, जहाँ फ़ासीवाद सत्ता में पहुँचा, बुर्जुआ जनवाद की ऐसी स्थिति थी कि उसे औपचारिक तौर पर भंग किये बिना फ़ासीवाद वह सबकुछ नहीं कर सकता था जो उसे करना था। यानी, साम्राज्यवाद के इस दौर में भी अपनी कई जनवादी सम्भावनासम्पन्नताओं के कमज़ोर होने के बावजूद भी, बुर्जुआ वर्ग व बुर्जुआ जनवाद में एक जनवादी सम्भावनासम्पन्नता थी। **इस वजह से बुर्जुआ जनवाद, संसदीय तन्त्र व बुर्जुआ जनवादी चुनावों को औपचारिक तौर पर भंग किये बिना बुर्जुआजी की सारी राजनीतिक व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना फ़ासीवादी शक्तियों के लिए मुमकिन नहीं था। इसलिए बुर्जुआ जनवादी तन्त्र का स्थगन अनिवार्य था।**

इसे एक उदाहरण से समझें। जब फ्रांस पर नात्सी कब्ज़ा हो गया था और वहाँ हिटलर की कठपुतली विची सत्ता बिठा दी गयी थी, तो फ्रांस में प्रतिरोध-युद्ध लड़ने वालों में फ्रांसीसी बुर्जुआजी का एक विचारणीय हिस्सा भी था। डी गॉल के नेतृत्व में फ्रांस में 1943 में राष्ट्रीय प्रतिरोध परिषद् का गठन हुआ, जिसमें आठ प्रतिरोध योद्धा-समूहों को शामिल किया गया और इन लोगों ने हथियार उठाकर नात्सी कब्ज़े के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। निश्चित तौर पर, नात्सी कब्ज़े के विरुद्ध सबसे रैडिकल तरीके से कम्युनिस्ट लड़े और वे ही लड़ सकते थे। लेकिन उस समय जनवादी बुर्जुआजी का एक हिस्सा भी नात्सियों के विरुद्ध बाकायदा हथियारबन्द लड़ाई लड़ रहा था। इसी डी गॉल ने 1960 के दशक में अस्तित्ववादी-मार्क्सवादी जनपक्षधर बुद्धिजीवी सार्त्र को उनके एक्टिविज्म के लिए गिरफ्तार करने के एक अधिकारी व कुछ नेताओं के प्रस्ताव पर कहा था कि "सार्त्र को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता क्योंकि फ्रांस को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।" आज समूचे पूँजीवादी विश्व में बुर्जुआजी यह बचा-खुचा जनवादी पोटेंशियल भी खो चुकी है। **क्यों? आइये इसे भी समझ लेते हैं।**

इसकी वजह यह है कि नवउदारवादी भूमण्डलीकरण पूँजीवाद के आखिरी चरण यानी साम्राज्यवाद का आखिरी दौर है। यह दौर जो कि 1970 के दशक के पूर्वार्द्ध, यानी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आये तेज़ी के दौर के समापन के बाद, शुरू हुआ, अपने श्रमविरोधी नीति, जनवादी अधिकारों के अभूतपूर्व निषेध, अभूतपूर्व प्रतिक्रिया और जंगखोरी के लिए जाना जाता है। अमेरिका में रीगन व ब्रिटेन में थैचर ने इसे आर्थिक व राजनीतिक सैद्धान्तिकीकरण (रीगनॉमिक्स व थैचरिज्म) प्रदान किया। *इसका सारतत्व था मज़दूर अधिकारों, नागरिक अधिकारों, जनवादी अधिकारों पर खुला हमला, विदेशी व घरेलू नीति में नग्न प्रतिक्रियावाद और घरेलू तौर पर शोषित व उत्पीड़ित जनसमुदायों के प्रति अभूतपूर्व कट्टरपंथ की नीति।* **नवउदारवादी दौर के बुर्जुआ राज्य में ऐसा कोई पूँजीवादी जनवादी पोटेंशियल बचा ही नहीं है, जो फ़ासीवादी शक्तियों को ऐसा कुछ भी करने से रोके जो कि बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक संकट के प्रतिक्रियावादी समाधान के तौर पर फ़ासीवादी करते हैं।** कोई ज़रूरी नहीं है कि फ़ासीवादी आज सत्ता में आने पर हूबहू पहले की ही तरह यातना शिविर बनाएँ, जातीय-नस्लीय पूर्ण सफ़ाया करें, इत्यादि। चूँकि नात्सी जर्मनी में हिटलर ने ऐसा किया, इसलिए इसका यह अर्थ नहीं है कि यातना शिविर बनाना या जातीय-नस्लीय (या साम्प्रदायिक) पूर्ण सफ़ाया करना ही फ़ासीवाद का राजनीतिक सारतत्व है। सारतत्व जिन रूपों में प्रकट होता है, उनके व उस सारतत्व के बीच हमेशा ही एक **सापेक्षिक स्वायत्तता** का सम्बन्ध होता है, अन्यथा सारतत्व और रूप में कोई अन्तरविरोध ही नहीं होता और उनके बीच पूर्ण अतिच्छादन होता। तो सवाल होता है इनके बीच के द्वन्द्व को समझने का। फिर फ़ासीवाद की राजनीतिक अन्तर्वस्तु क्या है? यह निम्न है:

एक फ़ासीवादी विचारधारा (एक कट्टरपंथी, अन्धराष्ट्रवादी, नस्लवादी/जातीयतावादी/साम्प्रदायिक/ प्रवासी-विरोधी विचारधारा जो पूँजीवाद के कुकर्मों के लिए पूँजीवाद को कठघरे में रखने के बजाय एक नकली दुश्मन पैदा करती है, जो कि यहूदी, मुसलमान या प्रवासी कोई भी हो सकता है और इस प्रकार पूँजीवाद की सेवा करती है)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में और **विशेषकर संकट के दौरों में** सामाजिक व राजनीतिक असुरक्षा व अनिश्चितता झेल रहे टुटपुँजिया वर्गों के सामने इस **नकली दुश्मन** की छवि को पेश करना, उनका एक रूमानी रहस्यवादी **प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन** खड़ा करना, जिसका इस्तेमाल मेहनतकश जनता के *वास्तविक या सम्भावित* आन्दोलनों के प्रतिभार के तौर पर किया जाये और पूँजी के हितों की सेवा की जाय; दूसरे शब्दों में, इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन का इस्तेमाल **बड़ी पूँजी की बर्बर, नग्न तानाशाही** को स्थापित करने के लिए किया जाय

एक **काडर-आधारित संगठन** जो निरन्तर तृणमूल स्तरों पर सक्रिय रहता है

सत्ता में रहने पर टुटपुँजिया वर्गों के रूमानी उभार और नकली दुश्मन की छवि का इस्तेमाल करके, **अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिक/नस्लवादी/जातीयतावादी/प्रवासी-विरोधी कट्टरपन्थ का इस्तेमाल करके श्रम अधिकारों, नागरिक अधिकारों, जनवादी अधिकारों आदि को अभूतपूर्व तरीके से निरस्त करना, ताकि औसत मज़दूरी को गिराया जा सके, श्रम की सघनता को बढ़ाया जा सके, कार्यदिवस**

(पेज 10 पर जारी)

जनता के जनवादी अधिकारों पर आक्रामक होता फ़ासीवादी मोदी सरकार का हमला और इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

(पेज 9 से आगे)

की लम्बाई को बढ़ाया जा सके, इसके प्रति हर प्रकार के श्रमिक या जनवादी विरोध को कुचला जा सके और इस प्रकार पूँजीपति वर्ग को मुनाफ़े की औसत दर के संकट से निजात दिलायी जा सके, उसके वर्ग हितों का सामूहिकीकरण कर उसके राजनीतिक संकट का तात्कालिक तौर पर हल किया जा सके, और मज़दूर वर्ग को विसंगठित कर उसके प्रतिरोध की सम्भावनाओं को समाप्त किया जा सके।

इन सब में जब बुर्जुआ जनवादी बहुदलीय संसदीय व्यवस्था बाधा बनती थी, तो फ़ासीवादी शक्तियों ने उसे औपचारिक तौर पर भंग किया। आज के नवउदारवादी दौर में बुर्जुआ जनवादी बहुदलीय संसदीय व्यवस्था अपने जनवादी पोटेंशियल से जिस हद तक रिक्त हो चुकी है, उसमें *आम तौर पर* यानी *आपवादिक स्थितियों* को छोड़ दें, तो इसकी कोई आवश्यकता फ़ासीवादी शक्तियों को नहीं है।

लुब्बेलुआब यह कि बिना यह समझे कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में फ़ासीवाद एक राज्य-परियोजना क्यों था, इस जुमले को अन्तहीन तरीके से दुहराते रहना केवल यही दिखाता है कि ऐसे लोगों के पास कोई ऐतिहासिक दृष्टिकोण नहीं है और वे कठमुल्लावादी हैं। 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप इस प्रकार के कठमुल्लावाद के सबसे मूर्ख और दरिद्र संस्करण की नुमाइन्दगी करता है।

अब **दूसरे कारण** पर आते हैं कि आज फ़ासीवादी शक्तियाँ क्यों संसदीय जनवाद के आवरण को नहीं फेंकना चाहतीं। यह आवरण कोई 'मुखौटा' नहीं है! 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व ने लिखा है कि कुछ लोग (यानी हम!) मानते हैं कि यह एक 'मुखौटा' है! **मूर्ख हर बात का उस रूप में सरलीकरण कर देते हैं, जिस रूप में वे उसे समझ सकते हैं!** संसदीय जनवाद एक *विशिष्ट रूप* है, कोई मुखौटा नहीं। किस चीज़ का विशिष्ट रूप? बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व का। यह बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व का आम रूप है, जिसे बुर्जुआजी पसन्द करती है और अन्य रूपों के ऊपर तवज्जो और तरजीह देती है। अन्य रूप उसके आपवादिक रूप होते हैं, जो कि राजनीतिक अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दु यानी बुर्जुआ वर्ग व राज्यसत्ता के राजनीतिक संकट के पैदा होने की सूरत में अपनाये जाते हैं: मसलन, बोनापार्तवादी सत्ता, बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आयी फ़ासीवादी सत्ताएँ जिनमें इस संसदीय रूप को भंग कर दिया गया, सैन्य तानाशाही और ऐसी धार्मिक कट्टरपन्थी सत्ताएँ जो कि औपचारिक तौर पर संसदीय जनवाद को समाप्त कर दें। ये आपवादिक रूप में तीव्र राजनीतिक संकट की अभिव्यक्ति के तौर पर अस्तित्व में आते हैं। लेकिन जब ये आपवादिक रूप में अस्तित्व में आते हैं, तो वे किस चीज़ की नुमाइन्दगी करते हैं? **वे तब भी बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व की ही नुमाइन्दगी करते हैं, जिसे क़ायम रखने में बुर्जुआ राज्यसत्ता अपने नियमित सामान्य रूप के ज़रिये, यानी संसदीय जनवाद के ज़रिये, नाकामयाब हो जाती है।**

एक दौर में, बुर्जुआ जनवाद में वह जनवादी पोटेंशियल था, जिसके कारण बुर्जुआ जनवादी बहुदलीय संसदीय व्यवस्था और बुर्जुआ जनवादी चुनाव इसमें बाधा बनते थे। आज वह स्थिति ही नहीं रही है। इस बात को हंगरी के एक मार्क्सवादी विचारक **ग्योर्गी एम. तमास** ने भी अच्छे से समझा है, हालाँकि वह इसे एक अनावश्यक नाम देते हैं: उत्तर-फ़ासीवाद। हमारा यह मानना है कि इस नाम की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक सारतत्व का प्रश्न है, फ़ासीवाद आज भी, मूलत: और मुख्यत:, उन्हीं चारित्रिक अभिलाक्षणिकताओं से पहचाना जायेगा, जिनसे पहले पहचाना जाता था और जिनका हमने ऊपर ज़िक्र किया है।

दूसरा कारण यह है कि बुर्जुआ वर्ग और उसके सबसे प्रतिक्रियावादी हिरावल यानी फ़ासीवादी शक्तियाँ भी इतिहास से सबक लेती हैं। केवल मज़दूर वर्ग और उसके हिरावल यानी कम्युनिस्ट ही ऐतिहासिक अनुभवों का समाहार नहीं करते। ऐसा सोचना ही मूर्खतापूर्ण होगा कि केवल क्रान्तिकारी वर्ग ही अपने ऐतिहासिक व्यवहार के अनुभवों से सीखता है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में फ़ासीवाद के लिए बुर्जुआ जनवादी रूप को औपचारिक तौर पर भंग करना अनिवार्य था, लेकिन इसका एक और नतीजा भी सामने आया, जिसका बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के फ़ासीवादियों ने और साथ ही बुर्जुआ वर्ग ने भी समाहार किया है। **वह नतीजा यह था कि फ़ासीवाद तीव्र आर्थिक संकट और उसके कुछ देशों में विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों के कारण राजनीतिक संकट में तब्दील होने के कारण, तेज़ी और तीव्रता के साथ सत्ता में आया, उसने बुर्जुआ जनवादी रूप को भंग किया और उसके बाद उतनी ही तेज़ी से उसका पतन हुआ और पतन का नतीजा केवल सत्ता से बाहर जाना नहीं था, बल्कि पूर्ण व्यवस्थित विध्वंस था।** मसलन, जर्मनी और इटली में युद्ध में पराजय और आन्तरिक प्रतिरोध-युद्ध के कारण नात्सी और फ़ासीवादी शक्तियों का व्यवस्थित और पूर्ण ध्वंस हुआ। नात्सी व फ़ासीवादी विचारधारा व संगठन को ही ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

इन विविध देशों में नवनात्सी ग्रुपों के पनपने की परिघटना, मूलत: और मुख्यत:, 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध से ही शुरू हो पायी और तब भी वे खुले तौर पर अपने आपको फासिस्ट या नात्सी नहीं घोषित करते थे, न ही यहूदी विरोधवाद (एण्टी सेमिटिज्म) का खुला प्रदर्शन करते थे और केवल प्रवासी-विरोधी कट्टरतापंथ और अन्धराष्ट्रवादी समूहों के रूप में अपने आपको प्रकट करते थे। **1970 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही ऐसा क्यों हुआ?** क्योंकि यह दीर्घकालिक मन्दी की शुरुआत का दौर था जो तब से नियमित अन्तराल पर गम्भीर संकटों को भी जन्म देती रही है (लगभग हर दस वर्ष पर, जैसे कि 1987, 1997-98, 2001-2002, 2007 में)। इस पूरे दौर में, बेहद छोटे तेज़ी के दौरों के छोड़ दें तो एक मन्द मन्दी की स्थिति लगातार बनी रही है क्योंकि किसी बड़े वैश्विक युद्ध के अभाव में पूँजी का पर्याप्त अवमूल्यन व उत्पादक शक्तियों का पर्याप्त ध्वंस नहीं हो पाया है। इस दौर में, दुनिया के लगभग सभी पूँजीवादी देशों के शासक बुर्जुआ वर्ग को धुर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी शक्तियों की आवश्यकता थी, जिन्हें वे वक्तन-ज़रूरतन सत्ता में भी पहुँचा सकते थे। कई देशों में ऐसी बुर्जुआ पार्टियाँ मौजूद थीं जिनमें समय पड़ने पर धुर दक्षिणपंथी गुण प्रदर्शित करने की क्षमता मौजूद थी। इन देशों में ऐसी कंज़रवेटिव पार्टियों ने यह काम किया। इसके अलावा, नयी नवनात्सी व नवफ़ासीवादी पार्टियों, जैसे कि नेशनल फ्रण्ट, गोल्डेन डॉन, इत्यादि का भी उसके बाद के दौर में उभार हुआ है।

'तीसरी दुनिया' के देशों में भारत की स्थिति अलग है क्योंकि यहाँ पर एक फ़ासीवादी संगठन की मौजूदगी का लम्बा और निरन्तरतापूर्ण इतिहास रहा है। आज़ादी के बाद के दौर में इस फ़ासीवादी संगठन ने भी फ़ासीवादी सत्ताओं के उभार और पतन के वैश्विक अनुभवों का समाहार किया है। 1945 में ही जर्मनी और इटली की पराजय के बाद नात्सी व फ़ासीवादी पार्टियों का यूरोप में पूर्ण ध्वंस हो गया। इसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नेतृत्व भी देख और समझ रहा था। जिस मुसोलिनी और हिटलर को एक दौर में गोलवलकर ने गर्व के साथ अपने आदर्श के रूप में उद्धृत किया था, उनका खुले तौर पर नाम लेने में अब संघियों को शर्म आती थी।

यही वजह है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में दीर्घकालिक आर्थिक संकट के दौर में दुनिया में कई देशों में जो फ़ासिस्ट पार्टियाँ अस्तित्व में आयीं और उनमें से कुछेक जो सत्ता में पहुँची, उन्होंने बुर्जुआ जनवाद के रूप को भंग नहीं किया और नवउदारवादी दौर में ऐसा किये बिना पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा के लिए फ़ासीवाद को जो भी करना होता है, वह करना सम्भव भी था। आम तौर पर, फ़ासीवादी शक्तियों ने यह सबक लिया है कि आज के दौर में अवस्थितिबद्ध युद्ध लड़ना उनके लिए अनिवार्य है। बुर्जुआ वर्ग ने भी यह नतीजा निकाला है कि बुर्जुआ जनवाद के रूप को बनाये रखना श्रेयस्कर और लाभप्रद है क्योंकि यह अधिक वर्चस्वकारी है और पूर्ण रूप से प्रभुत्व पर आधारित नहीं है, और इसमें कोई दिक्कत भी नहीं है क्योंकि उसकी अन्तर्वस्तु इतनी क्षरित और स्खलित हो चुकी है कि उसके रूप के कायम रहते, फ़ासीवादी शक्तियाँ वे सारे कुकर्म कर सकती हैं जो कि राजनीतिक संकट के दौर में बुर्जुआ वर्ग के हितों के सामूहिकीकरण के लिए अनिवार्य हैं।

इस प्रकार न तो आज फ़ासीवादी शक्तियों को बुर्जुआ जनवाद के रूप को औपचारिक तौर पर भंग करने की आवश्यकता है और न ही वे ऐसा करने को प्राथमिकता देंगे, क्योंकि इतिहास से उन्होंने भी सीखा है।

एक दूसरे अर्थ में यही बात आम तौर पर एक राजनीतिक वर्ग के रूप में बुर्जुआजी पर भी लागू होती है। केवल आपवादिक सूरत में ही कोई फ़ासीवादी पार्टी आज बुर्जुआ जनवाद के रूप को भंग करेगी। **ऐसा क्यों और कब हो सकता है और इसे कैसे समझें?** इसे समझने के लिए बुर्जुआ वर्ग और उसके फ़ासीवादी हिरावल के बीच के सम्बन्धों को समझना आवश्यक है। यह सम्बन्ध ऐसा नहीं होता जिसमें कि बुर्जुआ वर्ग मनमुआफिक तरीके से फ़ासीवादी हिरावल से वह सब करा सकता है और ठीक उसी रूप में करा सकता है, जिसमें कि वह कराना चाहता है। फ़ासीवादी हिरावल और बुर्जुआ वर्ग के बीच हमेशा एक सापेक्षिक स्वायत्तता का सम्बन्ध होता है। सत्ता पर कब्ज़े की अन्धी हवस (जिसे कुछ फ़ासीवादी चिन्तकों ने 'विल टू पावर' या 'सत्ता हथियाने की इच्छाशक्ति' का नाम दिया है) फ़ासीवाद जैसी धुर प्रतिक्रियावादी राजनीतिक धारा की एक विशिष्टता होती है, इसके बिना फ़ासीवाद फ़ासीवाद हो ही नहीं सकता क्योंकि जिस प्रकार के 'मज़बूत नेतृत्व' की छवि उसे एक रूप में बुर्जुआजी के सामने और एक दूसरे रूप में जनसमुदायों के सामने पेश करनी होती है, वह इस 'सत्ता हथियाने की इच्छाशक्ति' के बिना सम्भव ही नहीं है। इसलिए आपवादिक स्थिति में यह कतई मुमकिन है कि सत्ता से च्युत होने के ख़तरे में मोदी भी आपवादिक कानूनों को लाने व संसदीय तंत्र को भंग करने का कोई प्रयास करे। इस दिशा में कुछ कदम उठाकर फ़ासीवादी ताकतें माहौल को जाँचती भी रहती हैं, जैसे कि प्रेसिडेंशियल सिस्टम लागू करना या 'एक राष्ट्र एक चुनाव' की बात करना। लेकिन निश्चित ही इसकी सम्भावना कम है।

अब **तीसरे पहलू** पर आते हैं, जिसका रिश्ता विशेष तौर पर भारत के मामले से है।

फ़ासीवाद को बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से, विशेष तौर पर भारत जैसे देश में, एक राज्य-परियोजना रहने की आवश्यकता नहीं रह गयी क्योंकि एक **लम्बे अवस्थितिबद्ध युद्ध** के ज़रिये फ़ासीवादी शक्तियों ने राज्यसत्ता के उपकरणों का **अन्दर से 'टेकओवर'** करने के काम को भी काफ़ी हद तक अंजाम दिया है। इस अवस्थितिबद्ध युद्ध के वास्तव में निम्न प्रमुख तत्व रहे हैं :

पहला, नागरिक समाज में विशेष तौर पर टुटपुँजिया वर्गों, अर्द्धसर्वहारा वर्गों और आंशिक तौर पर अनौपचारिक क्षेत्र के सर्वहारा वर्ग के भीतर लम्बे प्रतिक्रियावादी संस्थानिक सुधार व सांस्कृतिक कार्य के ज़रिये एक जैविक समर्थन आधार का विकास करना;

दूसरा, इसी प्रतिक्रियावादी संस्थानिक कार्य और साथ ही लम्बे प्रचार कार्य के ज़रिये समाज में एक 'साम्प्रदायिक सहमति' का निर्माण करना, जिसके बूते एक ऐसी स्थिति पैदा की जाय कि फ़ासीवादी अपराधों व नरसंहारों में बहुसंख्यक समुदाय की जो बड़ी आबादी सक्रिय तौर पर शामिल नहीं होती, उसका भी बड़ा हिस्सा या तो थोड़ा नाक-भौं सिकोड़ते हुए मौन सहमति दे या फिर तटस्थ रहे;

तीसरा, राज्यसत्ता के निकायों, मसलन, नौकरशाही, सेना, पुलिस, अन्य सशस्त्र बलों, न्यायपालिका और यहाँ तक कि मीडिया तक में दशकों में फैली आणविक व्याप्ति (molecular permeation) की एक लम्बी प्रक्रिया के ज़रिये अपनी अवस्थिति को सुदृढ़ करना।

इन तीनों तत्वों के बूते फ़ासीवादी शक्तियों ने एक लम्बी प्रक्रिया में समाज और राजनीतिक अधिरचना में अपनी अवस्थितियों को सुदृढ़ किया है। चूँकि राज्यसत्ता के उपकरण व निकायों का आन्तरिक तौर पर फ़ासीवादी 'टेकओवर' विचारणीय हदों तक विकसित हुआ है, इसलिए भी

(पेज 11 पर जारी)

जनता के जनवादी अधिकारों पर आक्रामक होता फ़ासीवादी मोदी सरकार का हमला और इक्कीसवीं सदी में फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

(पेज 10 से आगे)

आज फ़ासीवाद को राज्य-परियोजना रहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस समूचे सन्दर्भ में, फ़ासीवादी शक्तियाँ दीर्घकालिक मन्दी के समूचे दौर में (जिसका एक प्रतिक्रियावादी आर्थिक व राजनीतिक प्रतिसाद ही नवउदारवादी भूमण्डलीकरण था) फ़ासीवादी शक्तियां सरकार में आ और जा सकती हैं; उनका सत्ता पर बार-बार होने वाला आरोहण आम तौर पर पहले से ज़्यादा आक्रामक होता है, जो कि राजनीतिक संकट की स्थिति पर निर्भर करता है। जितना तीव्र राजनीतिक संकट होता है, उतनी ही तीव्रता और आक्रामकता के साथ फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में पहुँचती हैं; अब फ़ासीवादी शक्तियों को सत्ता में पहुँचने के बाद बुर्जुआ जनवाद के रूप को भंग करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, जिसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं; और फ़ासीवादी शक्तियाँ जब सत्ता से च्युत होती हैं, तो भी उनका इतालवी फ़ासीवाद या जर्मन नात्सीवाद के समान पूर्ण ध्वंस नहीं होता, बल्कि वे ताक़तवर रूप में समाज में मौजूद होती हैं, बुर्जुआ वर्ग के आतंक गिरोहों और उनकी अनौपचारिक असंस्थाबद्ध राजनीतिक सत्ता की नुमाइन्दगी करती हैं। यही वजह है कि पिछले 50 वर्षों में कहीं भी ग़ैर-फ़ासीवादी बुर्जुआ पार्टियों ने सत्ता में रहने पर अपवादों को छोड़कर (जैसे गाँधी की हत्या के बाद और आपातकाल के दौरान) फ़ासीवादी शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया और न ही उनके रोकथाम की कोशिश की, न ही फ़ासीवादी राजनीति, विचारधारा व संगठन को खुले तौर पर प्रतिबन्धित किया, जबकि इनकी आतंकी कार्रवाई और अपराधों के पर्याप्त प्रमाण मौजूद थे।

यानी जो चीज़ द्वितीय विश्वयुद्ध के ठीक बाद के दौर में देखने को मिली थी आज वह पूरी तरह से अनुपस्थित है। अभी हाल ही में कर्नाटक में चुनाव जीतने के पहले कांग्रेस ने बयान दिया था कि सरकार बनाने पर वह कर्नाटक में बजरंग दल को प्रतिबन्धित कर देगी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया, हालाँकि राज्य सरकार के पास किसी संगठन को प्रतिबन्धित करने का अधिकार होता है। वजह यह कि भारत का पूँजीपति वर्ग यह नहीं चाहता है और इसलिए *सामान्य तौर पर* कांग्रेस ऐसा नहीं कर सकती है। पूँजीपति वर्ग को फ़ासीवादी शक्तियों की सतत् मौजूदगी की आवश्यकता है। चाहे वे सत्ता में रहें या न रहें। कभी वे अपना वज़न उनके पीछे रख सकती हैं, जिस सूरत में फ़ासीवादी शक्तियों के सत्ता में पहुँचने की गुंजाइश ज़्यादा होती है और किन्हीं अन्य मौकों पर वे अपना वज़न एक प्रतिसन्तुलनकारी कार्रवाई के तौर पर, किसी अन्य ग़ैर-फ़ासीवादी पार्टी के पीछे रख सकते हैं।

'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के एक वक्ता के अनुसार, जो कि बरनाला (पंजाब) में फ़ासीवाद पर एक गोष्ठी में बोल रहा था, पूँजीपति वर्ग मनमाने तरीके से फ़ासीवादी पार्टी और उसके फैसलों को तय कर सकता है! वह जब चाहे फ़ासीवादियों को आदेश या आज्ञा दे सकता है कि वे संसदीय जनवाद व जनवादी चुनावों को भंग कर दें और जब चाहे उन्हें निर्देश दे सकता है कि वे ऐसा न करें। वक्ता का कहना था कि "अभी इजारेदार पूँजी का आर्थिक संकट इतना गहरा नहीं है कि बुर्जुआजी 'फ़ासीवादी प्रबन्ध' लागू करे।" यानी, बुर्जुआजी का जब मन करता है तो वह 'फ़ासीवादी प्रबन्ध' लागू कर देता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा, मूर्ख हमेशा हर बात का उस रूप में सरलीकरण कर देते हैं, जिसमें वे उसे समझ पाते हैं!

यह दिखलाता है कि इस ग्रुप के नेतृत्व का फ़ासीवाद के इतिहास का और भारत में फ़ासीवादी उभार के इतिहास का अध्ययन कितना कमज़ोर है। यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर काल में मार्क्सवादी विद्वानों में एक पूरी बहस चली थी जिसमें विवाद का मुद्दा ठीक यही था: बुर्जुआ वर्ग फ़ासीवाद को चुनता है या फिर फ़ासीवाद अपने आपको बुर्जुआ वर्ग पर आरोपित कर देता है। वास्तव में, सच्चाई इन दोनों ग़ैर-द्वन्द्वात्मक दावों के बीच में है। बुर्जुआ वर्ग हमेशा अपने विकल्प खुले रखने का प्रयास करता है और जब भी उसकी आर्थिक और राजनीतिक शक्तिमत्ता उसे इजाज़त देती है तो वह चुनने के विकल्प को अपने पास रखता है; उसका राजनीतिक संकट यह निर्धारित करता है कि उसके पास यह विकल्प होगा, नहीं होगा या आंशिक तौर पर होगा। उसी प्रकार, एक टुटपुँजिया प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के बटखरे के बूते फ़ासीवाद अपने आपको एक विकल्प के रूप में पेश भी करता है और अगर बुर्जुआ वर्ग का राजनीतिक संकट अधिक गहरा हुआ और उसके मोलभाव की क्षमता कम हुई, तो वह अपने आपको आरोपित भी कर सकता है। इतिहास में आम तौर पर इन दोनों ही स्थितियों का मिश्रण दिखता है। यह राज्य और वर्ग के रिश्तों का प्रश्न है। बुर्जुआ वर्ग का राज्य आम तौर पर बुर्जुआ वर्ग के विशिष्ट वैयक्तिक तात्कालिक आर्थिक हितों के सामूहिकीकरण के लिए बुर्जुआ वर्ग को अनुशासित करता है। इस द्वन्द्व का दूसरा पहलू यह है कि बुर्जुआ वर्ग ही बुर्जुआ वर्ग के उन्नततम हिरावल यानी उसकी राज्यसत्ता को यह करने की 'आज्ञा देता है', या कहें, कि उसे देनी ही पड़ती है। बिना वैयक्तिक विशिष्ट आर्थिक हितों को नज़रन्दाज़ किये सामान्य राजनीतिक हितों को प्रधानता दी ही नहीं जा सकती। इसलिए राज्य व वर्ग के रिश्तों में यह द्वन्द्व मौजूद होता ही है। फ़ासीवादी सत्ता बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व का एक विशिष्ट रूप है। फ़ासीवादी सत्ता के मामले में तो यह सापेक्षिक स्वायत्तता और ज़्यादा होती है।

लेकिन 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के अपढ़-कुपढ़ नेतृत्व को न तो इस इतिहास के बारे में कुछ पता है और न ही इस सन्दर्भ में हुई समृद्ध सैद्धान्तिक मार्क्सवादी बहस के बारे में। नतीजतन, उनका एक नेता बरनाला में हुए उक्त सेमीनार में फ़ासीवादी शक्तियों को बुर्जुआ वर्ग के प्रत्यक्ष निर्देशों पर काम करने वाला एक उपकरण बना देता है, जबकि इनके सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक होते हैं, जैसा कि हमेशा ही वर्ग और उसके हिरावल के रिश्तों के मामले में होता है।

लुब्बेलुआब यह कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही फ़ासीवाद को एक ऐसी राज्य-परियोजना होने की कोई आवश्यकता नहीं है जिसमें बुर्जुआ बहुदलीय संसदीय जनवाद व जनवादी चुनावों को भंग करना अनिवार्य होता है। नवउदारवादी दौर में बुर्जुआ वर्ग के अधिनायकत्व का यह विशिष्ट रूप, यानी बुर्जुआ संसदीय जनवाद, अपनी उन बची-खुची जनवादी सम्भावनासम्पन्नताओं से भी रिक्त है, जो कुछ हद तक 1920 के दशक में या 1930 के दशक में उसके भीतर बची थीं। आज उस रूप को त्यागे बिना फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता में आ और जा सकती हैं, हर वह कुकर्म कर सकती हैं जो उन्हें पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक संकट के धुर प्रतिक्रियावादी समाधान के रूप में करना होता है, सत्ता से बाहर रहने पर समाज में मौजूद रह सकती हैं, अवस्थितिबद्ध युद्ध चला सकती हैं, अपनी खन्दकें खोद सकती हैं और इस सतत् मौजूदगी के लिए उन्हें पूँजीपति वर्ग का अविरत समर्थन भी प्राप्त होता है क्योंकि उनकी सतत् मौजूदगी पूँजीपति वर्ग के लिए भी दीर्घकालिक मन्दी के दौर में आवश्यक है, वे निरन्तर राज्यसत्ता के उपकरणों में घुसपैठ कर उनका आन्तरिक 'टेकओवर' जारी रख सकती है (जो एक सदा जारी रहने वाली अन्तरविरोधपूर्ण परियोजना होती है) और सत्ता से बाहर होने पर उनका पूर्ण विध्वंस अब न तो सम्भव है और न ही अनिवार्य।

ये बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से जारी कालखण्ड में फ़ासीवाद की चारित्रिक अभिलाक्षणिकताएँ हैं। इन्हें न समझने के कारण और बीसवीं सदी के फ़ासीवाद से सादृश्य निरूपण करने के मूर्खतापूर्ण प्रयासों के कारण तमाम लोग (मसलन, 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप का नेतृत्व) फ़ासीवाद-विरोधी आम मोर्चा बनाने और फ़ासीवाद विरोधी आम रणनीति बनाने के लिए गोडो* का इन्तज़ार कर रहे हैं, जो कभी आयेगा नहीं! हूबहू उसी रूप में फ़ासीवादी उभार और फ़ासीवाद के सत्ता में पहुँचने की पुनरावृत्ति ऊपर बताये गये कारणों के चलते असम्भव है। लेकिन ऐसे कठमुल्लावादियों को कौन समझा सकता है?

अभी हमने उपरोक्त कठमुल्लावादी और मूर्खतापूर्ण अवस्थिति की सम्पूर्ण आलोचना नहीं पेश की है, बस उस दिशा में कुछ आम प्रेक्षण रखे हैं। 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप का यह भी मानना है कि जब उनका गोडो आ जायेगा, यानी जब राज्यसत्ता हूबहू उस रूप में फ़ासीवादी हो जायेगी, जिस रूप में वह बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी व इटली में हुई थी, तब 1930 के दशक में कोमिण्टर्न द्वारा दी गयी फ़ासीवाद-विरोधी आम दिशा, यानी 'पॉप्युलर फ्रण्ट' की दिशा पर अमल करना होगा। अगर यह सच है तो उन्हें आज ही यह कहना चाहिए कि जब ऐसा होगा तो उनका ग्रुप कांग्रेस, आम आदमी पार्टी, सपा, बसपा, राजद, जद (यू), तृणमूल कांग्रेस आदि के साथ भी मोर्चा बनायेगा! उन्हें यह भी कहना चाहिए कि जब उनके इस अपेक्षित रूप में फ़ासीवादी सत्ता आ जायेगी, तो तात्कालिक लक्ष्य समाजवादी क्रान्ति नहीं बल्कि बुर्जुआ जनवाद की बहाली होगी! ये बातें इतने स्पष्ट रूप में बोलने में इनके घुटने कांप जाते हैं। सच्चाई यह है कि यह लाइन देते समय भी बुल्गारिया के कम्युनिस्ट नेता दिमित्रोव ने इसके यान्त्रिक अमल के खिलाफ़ चेताया था और बताया था कि एक मजबूत मज़दूर आन्दोलन के पूर्ण ध्वंस और पूर्ण पराजय के बाद की स्थितियों में कोमिण्टर्न ने यह लाइन पेश की है। आज वैसी कोई स्थिति नहीं है। आज सर्वहारा आन्दोलन को ही नये सिरे से खड़ा करना है और उसकी भरपूर सम्भावनासम्पन्नता और चुनौतियाँ, दोनों ही मौजूद हैं। और इन सारी बातों के बावजूद उस वक्त भी अधिकांश देशों में 'पॉप्युलर फ्रण्ट' की इस नीति के कार्यान्वयन के बहुत अच्छे नतीजे सामने नहीं आये थे। आज तो इसके परिणाम विनाशकारी होंगे।

आज कोमिण्टर्न की 1920 के दशक में पेश की गयी **मज़दूर वर्ग का यूनाईटेड फ्रण्ट** बनाने की आम रणनीति का एक संस्करण कहीं ज्यादा प्रासंगिक है और ठोस घटनाएँ इसकी ज़रूरत को पुष्ट करती हैं। बहरहाल, जल्द ही, 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप की अवस्थिति की विस्तृत आलोचना रखने वाली पुस्तिका आपके हाथों में होगी।

निष्कर्ष

हमारे लिए उपरोक्त विश्लेषण के ठोस निष्कर्ष क्या हैं?

पहला निष्कर्ष यह है कि हम बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से समूची पूँजीवादी व्यवस्था में आने वाले ढाँचागत परिवर्तनों को समझें, वर्तमान में जारी दीर्घकालिक मन्दी को समझें और उसके अनुरूप फ़ासीवादी उभार व उसके सत्ता में पहुँचने की प्रक्रिया में आने वाले परिवर्तनों को समझें। इन परिवर्तनों को समझे बग़ैर आज के दौर में फ़ासीवाद का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करना सम्भव नहीं होगा। ऊपर जिस लाइन की आलोचना हमने पेश की है वह मज़दूर वर्ग को फ़ासीवाद के समक्ष निःशस्त्र करने वाली एक ख़तरनाक लाइन है।

दूसरा निष्कर्ष, जो कि पहले निष्कर्ष का ही तार्किक पूरक है, वह यह है कि भाजपा की 2024 में यदि हार हो भी जाये तो वह फ़ासीवाद की निर्णायक हार नहीं होगी। फ़ासीवाद की आज के दौर में विशिष्टता ही यही है कि वह सत्ता में आ और जा सकता है, और पूँजीवादी संकट और उसके राजनीतिक अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्द यानी राजनीतिक संकट में तब्दील होने पर यह होता ही है, क्योंकि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के फ़ासीवादी उभार के समान इसकी पहचान तीव्र आकस्मिक अप्रतिरोध्य उभार और उतने ही तीव्र पूर्ण ध्वंस से नहीं होती, बल्कि लम्बे अवस्थितिबद्ध युद्ध, आणविक व्याप्ति और राज्यसत्ता में आन्तरिक घुसपैठ के ज़रिये निरन्तर जारी आन्तरिक टेकओवर की परियोजना से होती है।

तीसरा निष्कर्ष, जब फ़ासीवादी शक्तियाँ सत्ता से बाहर भी होती हैं, तो उनका पूर्ण ध्वंस नहीं होता बल्कि बुर्जुआजी तब भी उनके अस्तित्व बनाये रखना चाहती है और उन्हें अपना समर्थन देती रहती है। वह उन पर किसी प्रकार के पूर्ण प्रतिबन्ध का आम तौर पर विरोध करती है। वह उन्हें अपनी असंस्थानिक व अनौपचारिक राजनीतिक शक्ति के रूप में समाज और राजनीति में बनाये रखती है ताकि उसका सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनता के विरुद्ध प्रतिभार के रूप में इस्तेमाल कर सके।

चौथा निष्कर्ष, आज सभी क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियों को आम फ़ासीवाद-विरोधी मोर्चा बनाना चाहिए और संशोधनवादी दलों समेत समस्त बुर्जुआ दलों को इस सामान्य मोर्चे से अलग रखना चाहिए, हालाँकि मुद्दा आधारित रणकौशलात्मक मोर्चे उनमें से कइयों के साथ बन सकते हैं। किसी आम मोर्चे में ऐसी ताक़तों का शामिल करना, यानी ऐसे मोर्चे की असफल नियति पर शुरुआत में ही

(पेज 12 पर जारी)

मज़दूर आन्दोलन में मौजूद किन प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग का लड़ना ज़रूरी है?

1. क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को अर्थवाद के विरुद्ध निर्मम संघर्ष चलाना होगा!

(सातवीं क़िस्त)

• शिवानी

पिछले अंक में हमने देखा कि किस प्रकार अर्थवाद की प्रवृत्ति मज़दूर आन्दोलन के भीतर केवल राजनीतिक कार्यभारों के विषय में ही सामने नहीं आती है बल्कि सांगठनिक रूप व कार्यभारों के सन्दर्भ में भी दिखलाई पड़ती है। लेनिन ने इसको ही सांगठनिक मामलों में अर्थवादियों का नौसिखुआपन या आदिमता कहा था और साथ ही इसे सांगठनिक मसलों में भी सचेतनता के बरक्स स्वतःस्फूर्तता को प्राथमिकता देने की प्रवृत्ति बतलाया था। चूँकि मज़दूर वर्ग की सम्पूर्ण क्रान्तिकारी राजनीति ट्रेड यूनियन राजनीति के दायरे तक सिमटी नहीं होती है, इसलिए सांगठनिक रूप भी इसके अनुसार ही बदलते हैं और इसलिए जन संगठन और पार्टी संगठन के बीच फ़र्क होता है और होना ही चाहिए। जो लोग इस बुनियादी लेनिनवादी शिक्षा को नहीं समझते हैं, वे अकसर इन दोनों के बीच के फ़र्क को गड्डमड्ड करते हैं और जन संगठन से पार्टी का काम लेते हैं और पार्टी को एक जन संगठन में तब्दील कर देते हैं! ऐसे लोग सांगठनिक मसलों में भी दरअसल अर्थवादी होते हैं, जैसा कि स्वयं लेनिन ने बताया।

लेनिन **क्या करें?** में स्पष्ट करते हैं कि नौसिखुआपन या आदिमता केवल व्यावहारिक प्रशिक्षण के अभाव के कारण ही पैदा नहीं होती है। **बल्कि इसका अर्थ होता है क्रान्तिकारी कार्य के क्षेत्र को आम तौर पर संकीर्ण बनाने की मानसिकता और इसी संकीर्णता को उचित ठहराने के लिए उसे ऊँचा उठाकर एक विशेष "सिद्धान्त" में बदलना और फिर इसे ही स्वतःस्फूर्तता की पूजा तक ले जाना।** लेनिन यह भी बताते हैं कि यह नौसिखुआपन घनिष्ठ रूप से अर्थवाद से जुड़ा हुआ है और जब तक हम अर्थवाद को आम तौर पर दूर नहीं करते तब तक हम सांगठनिक कार्य की इस संकीर्णता को भी अलग से दूर नहीं कर सकेंगे। यह एक ज़रूरी लेनिनवादी शिक्षा है जिसे क्रान्तिकारी सर्वहारा को भली-भाँति समझने की आवश्यकता है।

लेनिन बताते हैं कि रूसी मज़दूर आन्दोलन में सांगठनिक मामलों में नौसिखुएपन की इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ मोटे तौर पर दो तरह से प्रकट हुईं। एक तरफ़ वे थे जिन्होंने कहा कि अभी तक चूँकि आम मज़दूरों ने उन व्यापक तथा जुझारू राजनीतिक कार्यभारों को ख़ुद पेश नहीं किया है जिनको क्रान्तिकारी लोग उन पर "लादने" की कोशिश कर रहे हैं इसलिए फ़िलहाल मज़दूरों को *तात्कालिक* राजनीतिक माँगों के लिए लड़ते जाना चाहिए, उन्हें मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष जारी रखना चाहिए और इस "आसानी से समझ आने वाले" संघर्ष के अनुरूप ही एक ऐसा संगठन बनाना चाहिए जिसे एकदम अप्रशिक्षित नौजवान भी "आसानी से समझ सकें"। वहीं दूसरी तरफ़ वे लोग थे जो अब कहने लगे थे कि "राजनीतिक क्रान्ति करना" सम्भव और आवश्यक है लेकिन इसके लिए सर्वहारा को दृढ़ और अटल संघर्ष की प्रशिक्षा देने वाला क्रान्तिकारियों का कोई मज़बूत संगठन बनाने की ज़रूरत नहीं है बल्कि कुछ उत्तेजना पैदा करने वाली आतंकवादी गतिविधियों के ज़रिये मज़दूर आन्दोलन को स्फूर्ति प्रदान करनी चाहिए। **लेनिन के अनुसार ये दोनों ही प्रवृतियाँ, अवसरवादी और "क्रान्तिवादी" नौसिखुएपन के आगे शीश नवाती हैं और दोनों ही आन्दोलन प्राथमिक और सबसे आवश्यक कार्यभार के तौर पर क्रान्तिकारी हिरावल पार्टी की ज़रूरत को नकारती है।**

दरअसल लेनिन यहाँ जिस बात को रेखांकित कर रहे हैं उसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं और वह है उस दौर के रूसी सामाजिक जनवादी आन्दोलन में कम्युनिस्टों और सिद्धान्तकारों (जिसमें कि ख़ुद सामाजिक जनवादी/कम्युनिस्ट मज़दूर भी शामिल हैं) का जनता के स्वतःस्फूर्त उभार के मुकाबले पिछड़ते जाना। मार्तिनोव जैसे अर्थवादी जब स्वतःस्फूर्तता के समर्थन में क़सीदे पढ़ रहे थे और जब दैनिक आर्थिक संघर्षों को ही राजनीतिक संघर्ष के सबसे वांछनीय रूप के तौर पर प्रचारित कर रहे थे तब वे वास्तव में, लेनिन के अनुसार, सांगठनिक मामलों में भी नौसिखुएपन और आदिमता के ही गीत गा रहे थे और इसका समर्थन कर रहे थे। देखें लेनिन ऐसे अर्थवादी मतावलम्बियों के बारे में क्या लिखते हैं, जिसकी अनुगूँजें भारत के मज़दूर आन्दोलन में भी अकसर सुनाई पड़ती हैं:

"जो लोग तिरस्कार के साथ नाक-भौं सिकोड़े बिना "सिद्धान्तकार" शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते, जो लोग प्रचलित पिछड़ेपन और प्रशिक्षण के भाव के आगे शीश नवाने को "जीवन की वास्तविकताओं की समझ" कहते हैं, उनके व्यवहार से प्रकट होता है कि वे हमारे सबसे आवश्यक *व्यावहारिक* कार्यभारों को भी नहीं समझते। जो पिछड़े हुए हैं, उनसे ये लोग चिल्लाकर कहते हैं: क़दम मिलाकर चलो! आगे मत भागो! जो सांगठनिक काम में क्रियाशीलता तथा पहलक़दमी नहीं दिखा पाते, जो व्यापक एवं साहसी कार्यों की "योजनाएँ" नहीं बना पाते, उनको ये लोग "प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति" के उपदेश सुनाते हैं! **हमारा सबसे बड़ा गुनाह यह है कि हम अपने राजनीतिक और सांगठनिक कार्यभारों को रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्ष के तात्कालिक, "ठोस", "स्पर्शनीय" हितों के स्तर पर उतार लाते हैं; परन्तु ये लोग हमें बार-बार वही पुराना गीत सुनाते रहते हैं: आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप दें!** हम फिर कहते हैं: इस तरह के व्यवहार से "जीवन की वास्तविकताओं की समझ" उतनी ही प्रकट होती है, जितनी एक प्रचलित लोक-कथा के उस नायक में थी, जिसने किसी की अन्त्येष्टि के समय शोक मनानेवालों से कहा कि "भगवान करे, यह दिन आपके लिए बार-बार आये!"

यह बात भारत के मज़दूर आन्दोलन पर भी एक हद तक लागू होती है। कई ऐसे ग्रुप हैं जो अपने कार्यकर्ताओं को इसी प्रकार के सिद्धान्त से रिक्त तात्कालिक, ठोस "व्यावहारिक" कामों की अन्धी गली में घुमाते रहते हैं और जहाँ सिद्धान्त या सैद्धान्तिक बहस का मसला आता है वहाँ "व्यवहार" की दुहाई देने लगते हैं। ऐसे लोग वास्तव में अर्थवादी भटकाव का शिकार ही होते हैं। आजकल इस तरह के लोगों में पंजाब के 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व का नाम अग्रणी है। वर्ष 2019 में पंजाबी राष्ट्रवाद और भाषाई अस्मितावाद के गड्ढ़े में गिरने के साथ ही इस ग्रुप के नेतृत्व के क्रान्तिकारी मार्क्सवाद से भी विपथगमन की प्रक्रिया शुरू होती चली गयी। "व्यवहार" पर इस प्रकार का ग़ैर-द्वंद्वात्मक ज़ोर दरअसल अपनी सैद्धान्तिक व विचारधारात्मक कमज़ोरियों को ही छिपाने का एक तरीक़ा होता है। कारण यह है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त भी किसी एक व्यक्ति या ग्रुप के व्यवहार से पैदा नहीं होता है। क्रान्तिकारी सिद्धान्त वर्ग संघर्ष के ऐतिहासिक अनुभवों के वैज्ञानिक अमूर्तन, सामान्यीकरण और समाहार के आधार पर अस्तित्व में आता है। यानी क्रान्तिकारी सिद्धान्त मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता द्वारा सदियों से जारी वर्ग संघर्ष के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार से निकलता है। दूसरी अहम बात यह है कि क्रान्तिकारी सिद्धान्त को सही तरीक़े से समझना, सीखना और लागू करना सीखना स्वयं क्रान्तिकारी व्यवहार का ही अंग है, कोई शुद्ध सिद्धान्तवाद नहीं। इसलिए ऐसे लोगों का यह शुद्ध "व्यवहारवाद" उनके विचारधारात्मक दिवालियापन का परिचायक है और अर्थवादी प्रवृत्ति की ही एक अभिव्यक्ति है।

बहरहाल,लेनिन अर्थवाद पर मारक चोट करते हुए कहते हैं कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष के ठहरे हुए पानी पर, दुर्भाग्यवश काई जम गयी है, और हम लोगों में कुछ ऐसे लोग पैदा हो गए हैं, जो स्वतःस्फूर्ति के आगे घुटने टेककर प्रार्थना करते हैं और सदा श्रद्धा व विस्मय से रूसी सर्वहारा का "पार्श्वभाग" (प्लेखानोव के शब्दों में जबकि अभी वह मार्क्सवादी थे-*लेखिका*) निहारते रहते हैं।" लेनिन आगे बताते हैं कि इस सोच से निजात पाने के लिए ज़रूरी है कि हम ऐसे हर सुझाव को उपेक्षा और तिरस्कार के साथ ठुकरा दें जो हमारे राजनीतिक कामों के स्तर को नीचे गिराने और हमारे सांगठनिक कार्य के क्षेत्र को सीमित करने के उद्देश्य से रखा गया हो।

लेनिन यहीं पर पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठन के रूप में हिरावल पार्टी (जिसमें कि स्वयं मज़दूर वर्ग के वे उन्नत तत्व शामिल होते हैं जिन्होंने द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और ऐतिहासिक भौतिकवादी विज्ञान को आत्मसात किया होता है) और मज़दूर आन्दोलन से उसके सम्बन्ध की बात को स्पष्ट करते हैं। **लेनिन कहते हैं कि अर्थवादी, संगठन और राजनीति दोनों के ही मामलों, में सामाजिक जनवाद से शुद्ध ट्रेड यूनियनवाद की ओर भटक जाते हैं।** मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष के मुकाबले सामाजिक जनवाद का राजनीतिक संघर्ष कहीं अधिक व्यापक और पेचीदा होता है। इसी वजह से एक क्रान्तिकारी सामाजिक जनवादी/कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन आर्थिक संघर्ष चलाने के लिए बनाये गये मज़दूरों के संगठनों से अवश्यम्भावी रूप से भिन्न ढंग का होगा। लेनिन लिखते हैं, "मज़दूरों के संगठन को एक तो ट्रेड यूनियन संगठन होना चाहिए; दूसरे उसे अधिक से व्यापक संगठन होना चाहिए; तीसरे उसके लिए ज़रूरी होता है कि वह कम से कम गुप्त हो। इसके विपरीत क्रान्तिकारियों के संगठन को सबसे पहले और मुख्यतया ऐसे लोगों का संगठन होना चाहिए, जिन्होंने क्रान्तिकारी कार्य को अपना पेशा बना लिया हो। और चूंकि यह विशेषता ऐसे संगठन के सभी सदयों में होनी चाहिए, इसलिए यह आवश्यक है कि न केवल मज़दूरों और बुद्धिजीवियों के बीच फ़र्क, बल्कि अलग-अलग व्यवसायों और पेशों का सारा अन्तर भी एकदम ख़त्म कर दिया जाए। ऐसे संगठन के लिए यह ज़रूरी है कि वह बहुत फैला हुआ न हो तथा अधिक से अधिक गुप्त हो।"

जन संगठन और हिरावल पार्टी के बीच लेनिन द्वारा बताये गए इन तीन-सूत्री अन्तरों पर हम चर्चा अगले अंक में जारी रखेंगे। यह चर्चा आम मज़दूरों व क्रान्तिकारी संगठनकर्ताओं के लिए बेहद ज़रूरी है ताकि इस प्रश्न पर एक लेनिनवादी नज़रिया विकसित हो सके। आम तौर पर भी मज़दूर आन्दोलन में इस प्रश्न पर काफ़ी विभ्रम की स्थिति मौजूद है। इसलिए पार्टी संगठन और जन संगठन के बीच के फ़र्क को समझना कोई शुद्ध सैद्धान्तिक कवायद नहीं है बल्कि हमारे रोज़मर्रा के क्रान्तिकारी कार्यों में इसकी विशिष्ट भूमिका है और यह सभी कार्य इसी समझदारी से निर्दिष्ट भी होने चाहिए। इसे समझे बग़ैर क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करना भी असम्भव है।

(अगले अंक में जारी)

मोदी सरकार का बढ़ता हमला और फ़ासीवाद के बारे में कुछ बातें

(पेज 11 से आगे)

मुहर लगा देना।

पाँचवा निष्कर्ष, आज का तात्कालिक कार्यभार है मज़दूर वर्ग के सबसे बड़े दुश्मन यानी मोदी-शाह नीत साम्प्रदायिक फ़ासीवाद का सड़कों पर मुकाबला करना और 2024 में चुनावों में उनकी पराजय को सुनिश्चित करना। लेकिन इस प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग को इस या उस पूँजीवादी पार्टी की पूँछ पकड़ने की आत्मघाती ग़लती नहीं करनी चाहिए, बल्कि अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को बरक़रार रखना चाहिए। तो फिर सर्वहारा वर्ग मोदी-विरोधी लहर को बल कैसे प्रदान कर सकता है? सर्वहारा वर्ग को जनता के असल ठोस मुद्दों पर यानी रोज़गार का कानूनी अधिकार, महँगाई से मुक्ति के लिए अप्रत्यक्ष करों के बोझ को कम करने, आवास, चिकित्सा व शिक्षा के अधिकार के लिए, और साथ ही सच्चे सेक्युलर राज्य की माँग के लिए जुझारू जनान्दोलन खड़े करने चाहिए। ये इसलिए भी ज़रूरी हैं क्योंकि तभी 2024 में आने वाली कोई भी सरकार इन माँगों पर विचार करने के लिए मजबूर होगी और यह क्रान्तिकारी शक्तियों को बुर्जुआ जनवाद के औपचारिक वायदों के साथ 'ओवर-आइडेण्टिफाई' करने और पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तरविरोधों को तीव्र करने का मौका देंगे। केवल ऐसे क्रान्तिकारी जनान्दोलनों को खड़ा करने के ज़रिये ही सर्वहारा वर्ग अपने वर्ग संघर्ष को मौजूदा राजनीतिक स्थिति में आगे बढ़ा सकता है।

उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर हमें अपने वर्तमान राजनीतिक कार्यभारों का व्यवस्थित और योजनाबद्ध तरीके से निर्धारण करना होगा। वक्त कम है, और काम बहुत ज़्यादा।

**(सैमुअल बेकेट के आधुनिकतावादी नाटक 'वेटिंग फॉर गोडो' का मूल प्रसंग जिसमें कई चरित्र गोडो नामक एक अन्य चरित्र के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, लेकिन वह कभी नहीं आता)*

अगर न्याय नहीं है, तो शान्ति कैसे हो सकती है?

(पेज 1 से आगे)

व फ़ासीवादी सत्ताधारियों ने भी इज़रायल के ज़ायनवादी उपनिवेशवाद के साथ एकजुटता जतायी है, मसलन, भारत के प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने। भारत का ऐसा स्टैण्ड भाजपा के सत्ता में आने के साथ ही हुआ है क्योंकि ज़ायनवादी नस्लवादियों की भारत के साम्प्रदायिक फ़ासीवादियों के साथ नैसर्गिक एकता बनती है। इससे पहले इन्दिरा गाँधी के दौर तक भारत ने कम-से-कम औपचारिक तौर पर फ़िलिस्तीनी मुक्ति के लक्ष्य का समर्थन किया था और इज़रायल द्वारा फ़िलिस्तीनी ज़मीन पर औपनिवेशिक कब्ज़े को ग़लत माना था। 1970 के दशक से प्रमुख अरब देशों का फ़िलिस्तीन के मसले पर पश्चिमी साम्राज्यवाद के साथ समझौतापरस्त रुख़ अपनाने के साथ भारतीय शासक वर्ग का रवैया भी इस मसले पर ढीला होता गया और वह "शान्ति" की अपीलों में ज़्यादा तब्दील होने लगा, हालाँकि कोई भी तार्किक व्यक्ति जानता है कि औपनिवेशिक कब्ज़ा करने वाली ताक़त के साथ, जनसंहार करने वाली शक्तियों के साथ शान्ति कैसे हो सकती है? क्या आप ब्रिटिश उपनिवेशिवादियों के विरुद्ध भारतीय जनता के मुक्ति की लड़ाई के जवाब में शान्ति की अपीलें कर सकते थे? क्या आप तमाम भारतीय क्रान्तिकारियों द्वारा ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध हिंसक तौर-तरीकों के इस्तेमाल के आधार पर उनको 'लश्कर-ए-तैयबा' या 'अभिनव भारत' जैसा आतंकवादी कह सकते थे? फिर तो भगतसिंह , सुखदेव, राजगुरू, चन्द्रशेखर आज़ाद सभी आतंकी हो जाएँगे!

ज़ाहिर है, जो फ़िलिस्तीन और इज़रायल का इतिहास नहीं जानते उन्हें यह बात अजीब लग सकती है क्योंकि बचपन से पश्चिमी साम्राज्यवादी मीडिया ने उनके दिमाग़ में इज़रायलियों को पीड़ितों और फलस्तीनियों को आतंकवादी के रूप में पेश किया है। वजह यह है कि मध्य-पूर्व में पश्चिमी साम्राज्यवाद के हितों की रखवाली करने के लिए 1948 में इज़रायल के राज्य की स्थापना की गयी थी। बायो-ईंधन आज भी साम्राज्यवाद के लिए सर्वाधिक रणनीतिक माल है और उसका भण्डार मध्य-पूर्व है। बीसवीं सदी के मध्य और उसके ठीक बाद के दौर में मध्य-पूर्व में राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र सत्ताओं के अस्तित्व में आने के साथ तेल के अकूत भण्डार पर नियन्त्रण और मध्य-पूर्व के देशों पर आम तौर पर राजनीतिक नियन्त्रण का सवाल अमेरिका, ब्रिटेन और गौण रूप में फ्रांस व अन्य यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए अहम सवाल बन गया था। इस बात को ब्रिटेन के साम्राज्यवादी बीसवीं सदी के शुरुआत से ही समझ रहे थे कि यहूदियों के लिए एक अलग राज्य के निर्माण के नाम पर मध्य-पूर्व में एक कृत्रिम राज्य को बनाना, उसके ज़रिये फ़िलिस्तीन का औपनिवेशीकरण कर फलस्तीनियों को अपने ही देश से दर-बदर करना और इज़रायल के इस राज्य को मध्य-पूर्व में पश्चिमी साम्राज्यवाद के लठैत के तौर पर बिठाना उसके लिए भावी रूप में फ़ायदेमन्द होगा। 1917 में फ़िलिस्तीन ओटोमान साम्राज्य का अंग था। उस समय ब्रिटेन के साम्राज्यवादियों ने एक बालफोर घोषणा जारी कर फ़िलिस्तीन में यहूदियों के लिए एक अलग राज्य बनाने का प्रस्ताव पेश किया। इसकी माँग यूरोप में यहूदी नस्लवादी धारा के तौर पर उभर चुके ज़ायनवादी पहले से ही कर रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ज़ायनवाद के रूप में अपना एक उपयोगी उपकरण नज़र आ रहा था। 1516 से फ़िलिस्तीन का क्षेत्र ओटोमॉन साम्राज्य का अंग था। प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्क ऑटोमॉन साम्राज्य धुरी शक्तियों के साथ शामिल था। उसकी पराजय सुनिश्चित थी और ब्रिटिश साम्राज्यवादी तभी से फ़िलिस्तीन के ऐसे भविष्य के बारे में सोचने लगे थे जो उनके लिए फ़ायदेमन्द हो।

इससे ठीक पहले के दौर में, यानी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में रूस में यहूदियों के विरुद्ध भयंकर जातीय हिंसा की घटनाएँ हुईं जिसमें सैंकड़ों यहूदी मारे गये। ऐसी ही घटनाएँ पूर्वी यूरोप में और कुछ हद तक पश्चिमी यूरोप में भी हो रही थीं। इसका सबसे प्रभावी जवाब कम्युनिस्ट दे रहे थे और यहूदी विरोधवाद (एण्टी सेमिटिज़्म) के ख़िलाफ़ वर्गीय ज़मीन से संघर्ष करते हुए जनएकजुटता बनाने का संघर्ष कर रहे थे। यही वजह थी कि पूरे यूरोपीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में कई शीर्ष नेता यहूदी समुदाय से आये थे। लेकिन यहूदी विरोधी हिंसा का एक प्रतिक्रियावादी जवाब यहूदी बुर्जुआ वर्ग के भीतर से भी पैदा हुआ था, जिसके बौद्धिक नेताओं में लियॉन पिंस्कर व थियोडोर हर्जल जैसे लोग थे। इन्होंने एक यहूदी राज्य बनाने का सिद्धान्त दिया और यहूदी समुदाय को एक धार्मिक समुदाय मानने के बजाय उन्हें एक राष्ट्र के रूप में पेश किया। निश्चय ही, यहूदी समुदाय कई देशों में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक के रूप में मौजूद था, लेकिन दुनिया के पैमाने पर यहूदी समुदाय किसी एक राष्ट्र को संघटित नहीं करता था। ज़ायनवाद एक साम्प्रदायिक नस्लवादी अन्धराष्ट्रवाद था, जिसका प्रचार हर्ज़ल जैसे ज़ायनवादी कर रहे थे। ये ज़ायनवादी शुरू से ही ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ गठजोड़ बनाये हुए थे और एक अलग नस्लवादी साम्प्रदायिक यहूदी राष्ट्र बनाने की परियोजना में उनकी मदद माँग रहे थे। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अलग-अलग मौकों पर कई जगहों पर ऐसे राज्य के निर्माण का प्रस्ताव रखा जैसे कि युगाण्डा व उरुगुवाय में। लेकिन ज़ायनवादियों ने फ़िलिस्तीन के मूल प्रस्ताव पर ज़ोर दिया और ज़ायनवादी यहूदी बैंकरों, पूँजीपतियों व धनाढ्यों के, (जिनका पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों में पर्याप्त आर्थिक व राजनीतिक असर था), जैसे कि रॉथ्सचाइल्ड परिवार जिसकी शाखाएँ कई यूरोपीय देशों में सर्वाधिक धनी पूँजीपतियों में से एक हैं, समर्थन से फ़िलिस्तीन के प्रस्ताव को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अपनाया। इसके अलावा, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ऑटोमॉन साम्राज्य के नियन्त्रण के समाप्त होने के बाद इस समूचे क्षेत्र पर पश्चिमी साम्राज्यवाद की पकड़ बनाये रखने के लिए भी फ़िलिस्तीन पर औपनिवेशिक कब्ज़ा कर इज़रायल के राज्य के निर्माण की योजना ब्रिटिश व औम तौर पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों को बेहतर लगी। इसकी शुरुआत मैण्डेटरी फ़िलिस्तीन के साथ कर दी गयी और उसी समय से यहूदी सेटलर उपनिवेशवादियों को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने आतंकी तौर-तरीकों से फ़िलिस्तीन में बसाना शुरू किया और फ़िलिस्तीन के उपनिवेशीकरण की परियोजना को लगातार आगे बढ़ाया, जिसकी तार्किक परिणति 1948 में इज़रायल के राज्य के औपचारिक जन्म के साथ हुई। इस बीच ज़ायनवादी आतंकी गिरोहों के ज़रिये फलस्तीनियों का बड़े पैमाने पर कत्ले-आम और विस्थापन किया गया। इस राज्य के बदले में ज़ायनवादी नस्लवादी साम्राज्यवादियों को पश्चिमी साम्राज्यवाद के हितों की मध्य-पूर्व में देख-रेख करनी थी। और आज तक इज़रायल वही करता आया है। यही तो वजह है कि सारे अन्तरराष्ट्रीय कानूनों की धज्जियाँ उड़ाते हुए वेस्ट बैंक व बाकी फ़िलिस्तीन में ग़ैर-कानूनी यहूदी बस्तियाँ बसाने और गाज़ा व बाकी फ़िलिस्तीन में फ़िलिस्तीनी जनता व राष्ट्र का बार-बार नरसंहार करने के बावजूद पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियाँ "इज़रायल के आत्मरक्षा" के अधिकार की बकवास करती हैं, जबकि सच यह है कि रोज़-रोज़ जारी इज़रायली जनसंहार के विरोध में यह फलस्तीनियों की आत्मरक्षा है।

अधिकांश अरब देशों की पूँजीवादी सत्ताएँ अपने हितों के मद्देनज़र 1970 के दशक से ही फ़िलिस्तीनी जनता के साथ ऐतिहासिक ग़द्दारी शुरू कर चुकी हैं। मिस्र में अनवर सादत के साथ यह दौर शुरू हुआ था। फ़िलिस्तीन के भीतर यासर अराफ़ात के पेलेस्टीनियन लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन ने एक शानदार सेक्युलर प्रतिरोध युद्ध लड़ा था जिसमें फ़िलिस्तीनी मुसलमान, यहूदी व ईसाई तीनों ही शामिल थे। लेकिन 1990 के दशक में यासर अराफ़ात ने भी समझौतापरस्त रुख़ अपना लिया। अक्सर रैडिकल बुर्जुआ राष्ट्रवादी प्रतिरोध युद्धों के नेतृत्व के साथ ऐसा होता रहा है। लेकिन फ़िलिस्तीनी जनता ने इन निराशाजनक घटनाओं के बावजूद अपना प्रतिरोध युद्ध कभी बन्द नहीं किया। तमाम उतार-चढ़ावों से गुज़रता हुआ वह जारी रहा है। जब कोई और नेतृत्व मौजूद नहीं होता, तो जनता उसके साथ खड़ी होती है, जो लड़ रहा होता है। विचारधारात्मक तौर पर हमास एक इस्लामिक संगठन ही है। इसमें कोई शक़ नहीं है। उसका मूल ही मुस्लिम ब्रदरहुड नामक इस्लामिक कट्टरपंथी संगठन है। उसने हालिया वर्षों में अपने रुख़ में कुछ बदलाव ज़रूर किया है, लेकिन उसका विचारधारात्मक चरित्र निश्चय ही सेक्युलर नहीं बल्कि इस्लामिक ही है। लेकिन फ़िलिस्तीनी जनता आज उसके साथ ही खड़ी हो सकती है, जो इज़रायली ज़ायनवादियों के विरुद्ध वाकई लड़ रहा है। फ़िलिस्तीनी राजनीति का दूसरा छोर फतह (यासर अराफ़ात द्वारा स्थापित संगठन) जो कि विचारधारा से सेक्युलर है, और फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन (जिसमें कई फ़िलिस्तीनी ग्रुप शामिल रहे थे, लेकिन फतह जिसमें सबसे प्रमुख स्थान रखता है) ओस्लो समझौते के बाद से संघर्ष का रास्ता, मूलत: और मुख्यत:, छोड़ चुके हैं। वास्तव में, इस समझौतापरस्ती की अति-प्रतिक्रिया के तौर पर ही हमास का उद्भव और विकास हुआ (जिसे शुरुआत में खुद इज़रायल ने पाला-पोसा था) और उसके द्वारा सशस्त्र संघर्ष को जारी रखने की वजह से ही आज 80 फ़ीसदी से ज़्यादा फ़िलिस्तीनी हमास के संघर्ष को सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं।

जब हम फ़िलिस्तीन के जारी मुक्ति संघर्ष का समर्थन करते हैं तो हम कतई हमास का विचारधारात्मक तौर पर समर्थन नहीं करते, बल्कि फ़िलिस्तीनी जनता द्वारा इज़रायली ज़ायनवादी हत्यारों और उनके औपनिवेशिक कब्ज़े के विरुद्ध जारी संघर्ष का समर्थन करते हैं। जनता के पास राजनीतिक व सैन्य नेतृत्व देने के लिए जो विकल्प मौजूद है, वह उसका सशर्त समर्थन करती है। जो लड़ रहा है और लड़ने को तैयार है, उत्पीड़ित जनता उसका समर्थन करती है, चाहे विचारधारात्मक तौर पर वह उससे सहमत हो या नहीं। ग़ौरतलब है कि बीच में हमास ने गाज़ा में स्त्रियों पर पोशाक सम्बन्धी कई इस्लामिक नियम थोपने का प्रयास किया था, जिसे गाज़ा की औरतों ने पुरज़ोर तौर पर नकार दिया था और हमास की सरकार को खुले तौर पर कहना पड़ा था कि यह उसकी नीति नहीं है और कुछ लोगों द्वारा की गयी अनधिकृत कार्रवाई है और हमास का यह मानना है कि इन नियमों को मनवाने के लिए वह सहमत करने की नीति को मानता है न कि ज़ोर-ज़बर्दस्ती की नीति को। वजह यह है कि ऐतिहासिक तौर पर फ़िलिस्तीनी जनता समूचे अरब में सर्वाधिक आधुनिक व प्रगतिशील चरित्र रखने वाली जनता रही है। उस पर इस प्रकार के फतवे थोपना बहुत मुश्किल है। यही वजह है कि हमास ने बाद में मुस्लिम ब्रदरहुड का एक अध्याय होने की बात को 2017 में नकार दिया, जो कि उसके मूल दस्तावेज़ का हिस्सा था। इसमें कोई दो राय नहीं है कि फ़िलिस्तीनी जनता की ऐतिहासिक प्रकृति और फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष के कई वर्षों के अनुभवों के कारण हमास को भी अपने अन्दर कई विचारधारात्मक बदलाव करने पड़े हैं। लेकिन इन सबके बावजूद वह एक इस्लामिक संगठन ही है और क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग उसका विचारधारात्मक विरोध करता है।

लेकिन क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग हर सूरत में फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का समर्थन करता है। यह त्रासद है कि आज इस मुक्ति संघर्ष का वह नेतृत्व जो वाकई लड़ रहा है और लड़ने को तैयार है और इसी वजह से वह फ़िलिस्तीनी जनता के बहुलांश का राजनीतिक व सैन्य नेतृत्व बन रहा है, वह कोई सेक्युलर या क्रान्तिकारी संगठन नहीं है। लेकिन यह फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का समर्थन न करने का आधार नहीं हो सकता है। उनकी राष्ट्रीय मुक्ति उनका अधिकार है। अपना नेतृत्व चुनना भी उनका अधिकार है। किस प्रकार का राज्य मुक्ति के उपरान्त स्थापित करना है, यह भी उनका अपना मसला है। हम उसकी विचारधारात्मक आलोचनात्मक विवेचना ज़रूर कर सकते हैं, लेकिन अपनी कौमी आज़ादी के उनके हक़ और उस हक़ के लिए उनकी लड़ाई का निश्चय ही हम समर्थन करेंगे। वास्तव में, फ़िलिस्तीनी जनता में इस्लामी कट्टरपन्थ को 1980 के दशक में फैलाने और स्थापित करने का काम ख़ुद इज़रायल और अमेरिका ने किया था और हमेशा की ही तरह यह उनके लिए भस्मासुर साबित हो रहा है। 1980 के दशक में गाज़ा में इज़रायली सैन्य गर्वनर के रूप में तैनात ब्रिगेडियर जनरल यित्झाक सेगेव ने और उसके जैसे तमाम ज़ायनवादियों ने लम्बे समय से बताया है कि किस तरह से फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियों और सेक्युलर फतह की धारा को किनारे लगाने के लिए कुछ फ़िलिस्तीनी इस्लामी कट्टरपंथियों को, जो मुस्लिम ब्रदरहुड से रिश्ता रखते थे, खुद इज़रायलियों ने वित्तीय, सैन्य व राजनीतिक मदद दी ताकि वे एक इस्लामी कट्टरपंथी संगठन खड़ा करके फ़िलिस्तीनी मुक्ति

(पेज 14 पर जारी)

गाज़ा पर इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक घेरेबन्दी मुर्दाबाद! गाज़ा पर इज़रायली कब्ज़ा मुर्दाबाद! फ़िलिस्तीनी जनता का मुक्ति संघर्ष ज़िन्दाबाद !

हमें इस पर स्पष्ट हो जाना चाहिए : इज़रायल पर हमास का हमला और कुछ नहीं बल्कि 75 साल पुराने क्रूर क़ब्ज़े और दमन के ख़िलाफ़ और 15 साल से अधिक समय से जारी गाज़ा पट्टी की अमानवीय नाकाबन्दी के ख़िलाफ़ प्रतिरोध का युद्ध है, वही गाज़ा पट्टी जहाँ दुनिया की सबसे सघन बसावट है, जहाँ शिशु मृत्यु दर सबसे अधिक है और बेरोज़गारी, ग़रीबी, कुपोषण और भूख अपने चरम पर है। यह दुनिया की सबसे बड़ी खुली जेल है, जहाँ इज़रायल की ज़ायनवादी सत्ता नियमित रूप से अपने हथियारों का परीक्षण करती है, और इस प्रकार अपने सम्भावित ख़रीदारों के सामने इनका प्रदर्शन करती है। गाज़ा की घेरेबन्दी स्वयं मानवता के ख़िलाफ़ एक अपराध है!

शनिवार 7 अक्टूबर को जो हुआ, वह गाज़ा के बन्दियों द्वारा अपनी आज़ादी के लिए उस क़ैदख़ाने को तोड़ने का ही एक क़दम था। निश्चित रूप से यह एक प्रतिरोध युद्ध था और अन्य सभी युद्धों की तरह यह भी क्रूर था। हालाँकि इतिहास की समझ और न्याय की भावना रखने वाला कोई भी व्यक्ति उन हज़ारों सेटलर इज़रायलियों और सैकड़ों पर्यटकों के साथ सहानुभूति नहीं रख सकता जो दक्षिण इज़रायल के रेगिस्तान में क्रूर और नस्लवादी सेटलर्स के जश्न का आनन्द लेना चाहते थे, जो रेव पार्टी और इलेक्ट्रॉनिक डांस पार्टी में मशगूल थे जबकि उनसे कुछ ही किलोमीटर दूर छोटे बच्चे, स्त्रियाँ और बुज़ुर्ग गाज़ा की अमानवीय घेराबन्दी के कारण सालों से मारे जा रहे थे। आपको क्या लगता है कि गाज़ावासियों द्वारा इस प्रकार के प्रतिशोध और जेल ब्रेक के दौरान उन इज़रायली सेटलर्स के साथ क्या हो सकता था, जो गाज़ा सीमा पर इस प्रकार के अश्लील नाच का प्रदर्शन कर रहे थे जबकि सीमा के उस पार कितने ही मासूम और निर्दोष लोगों के दर्द और पीड़ा का समन्दर था! कोई भी ऐसा व्यक्ति इस बात पर सिर्फ़ खेद ही प्रकट कर सकता है जब वह इज़रायली रेव पार्टी के पीड़ितों के साथ सहानुभूति और संवेदना रखने से चूकता है! वे बस नहीं कर सकते!

हमें एक और चीज़ पर स्पष्ट हो जाना चाहिए, वह यह कि इन सबका मूल कारण फ़िलिस्तीन की ज़मीन पर ज़ायनवादी सेटलर क़ब्ज़ा होना है। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू तक ने इज़रायली सेटलर्स द्वारा फ़िलिस्तीनी अवाम के विस्थापन का विरोध किया था। बाल्फ़ोर घोषणा और फ़िलिस्तीन के जनादेश के पहले अरब मुस्लिम, अरब यहूदी, अरब ईसाई उसी भूमि पर एक साथ रह रहे थे। इज़रायल देश का निर्माण मूलतः ज़ायनवादियों (जो 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में धुर दक्षिणपन्थी नस्लवादी राजनीतिक रुझान के तौर पर अस्तित्व में आया था और दक्षिणपन्थी नस्लवादी यहूदी राष्ट्र की वकालत कर रहा था) के ब्रिटिश व पश्चिमी साम्राज्यवादियों (जो 1908 के बाद से मध्यपूर्व में तेल के सबसे बड़े स्रोत की खोज के बाद वहाँ पर साम्राज्यवादी हितों की रक्षा करने के लिए एक चेक पोस्ट स्थापित करना चाहते थे) के गठजोड़ के फलस्वरूप हुआ था।

आपको क्या लगता है कि पश्चिमी साम्राज्यवादी ताक़तें फ़िलिस्तीनियों पर हो रहे इज़रायली अत्याचारों के प्रति आँखें क्यों मूँद लेती हैं और बड़े बेशर्म और बेहूदे तरीक़े से "इज़रायल के अपनी रक्षा करने के अधिकार" के बारे में फ़र्ज़ी बातें क्यों करती हैं? क्योंकि इज़रायल एक ज़ायनवादी-साम्राज्यवादी सेटलर कॉलोनी के अलावा और कुछ नहीं! अगर इज़रायल को उस फ़िलिस्तीनी अवाम के प्रतिरोध के ख़िलाफ़ ख़ुद का बचाव करने का अधिकार है, जिसका उसने लगभग एक सदी से (फ़िलिस्तीन के ब्रिटिश मैंडेट के समय से) बर्बर दमन व उत्पीड़न किया है, तब डचों को भी कांगो में "ख़ुद का बचाव करने का अधिकार" था, फ्रांसीसीयों को अल्जीरिया में "खुद को बचाने का अधिकार" था, अमेरिकियों को इराक़, अफ़ग़ानिस्तान और वियतनाम में "ख़ुद को बचाने का अधिकार" था, अंग्रेज़ों को 1857 के भारतीय विद्रोह के ख़िलाफ़ और एचएसआरए के क्रान्तिकारियों के प्रतिरोध कार्यों के ख़िलाफ़ "ख़ुद को बचाने का अधिकार" था! जब झूठ की घनघोर बारिश हो रही हो तब एक बार फ़िर से सत्य को दोहराओ, औपनिवेशिक सेटलर्स और उत्पीड़कों को आत्मरक्षा का कोई अधिकार नहीं!

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि साम्प्रदायिक फ़ासीवादी मोदी सरकार ज़ायनवादी सेटलर उपनिवेशवादियों के पक्ष में खड़ी है क्योंकि वे नैसर्गिक रूप से एक दूसरे के सहयोगी हैं, दोनों ही अन्धराष्ट्रवादी हैं, दोनों जन-विरोधी हैं, दोनों साम्प्रदायिक और/या नस्लवादी हैं, दोनों पूँजीपतियों के पिट्ठू हैं और दोनों ही लोकतन्त्र के ख़िलाफ़ हैं। इसके अलावा, संघ परिवार को औपनिवेशिक ताक़तों का साथ निभाने में महारत हासिल है, चाहे वह ब्रिटिश हों या इज़रायली सेटलर उपनिवेशवादी। (याद है? इन्ही लोगों ने आज़ादी की लड़ाई के योद्धाओं और हमारे उन क्रान्तिकारियों के ख़िलाफ़ ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के समक्ष मुखबिरी की थी जिन्होंने भारत की आज़ादी के लिए अपनी जान तक क़ुर्बान कर दी थी।) मोदी ने भारतीय विदेश नीति को बदल दिया है, जो ऐतिहासिक रूप से, कम से कम औपचारिक तौर पर ही सही लेकिन फ़िलिस्तीन के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करने और इज़रायल में सेटलर उपनिवेशों का विरोध करने के लिए जानी जाती थी। मोदी सरकार के ज़ायनवादियों के साथ इस गठजोड़ का एक और कारण यह है कि फ़िलिस्तीनी मुख्यतः मुसलमान हैं (पर ध्यान रहे सिर्फ़ मुसलमान नहीं! बल्कि अरब यहूदी और अरब ईसाई भी हैं!) संघी फ़ासिस्टों द्वारा खड़ा किया गया नक़ली दुश्मन इत्तेफ़ाक़ से ज़ायनवादी सत्ता के पीड़ितों से मेल खाता है।

इज़रायली सेटलर राज्य द्वारा मानवता के विरुद्ध किये गये अपराध को न्यायोचित ठहराने के लिए हॉलोकास्ट की त्रासदी का लगातार इस्तेमाल करना सभी प्रकार के तर्कों का प्रहसन है। हॉलोकास्ट की त्रासदी भी साम्राज्यवाद का और पूँजीवादी संकट का ही अन्तिम परिणाम है जिसके फलस्वरूप जर्मनी, इटली और यूरोप के कुछ देशों में धुर दक्षिणपन्थी / फ़ासीवादी अन्धराष्ट्रवादी नस्लवादी सत्ताओं का जन्म हुआ था। एण्टी-सेमेटिज़्म (यहूदी-विरोधी विचारधारा) का एक लम्बा इतिहास है और इस समस्या का समाधान जनता के शोषण और उत्पीड़न पर आधारित व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नहीं है,

(पेज 15 पर जारी)

अगर न्याय नहीं है, तो शान्ति कैसे हो सकती है?

(पेज 13 से आगे)

संघर्ष में कम्युनिस्ट व सेक्युलर प्रभाव को ख़त्म करें और समूचे मुक्ति संघर्ष को ही भ्रष्ट कर दें। उस समय ख़ुद यासर अराफ़ात ने हमास को इज़रायल द्वारा पैसा किया गया जन्तु बताया था।

लेकिन जब खुद सेक्युलर धारा का पतन हुआ और कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी धारा अपने वर्चस्व को मुक्ति संघर्ष में स्थापित नहीं कर पायी, तो हमास 1980 के दशक से फ़िलिस्तीनी प्रतिरोध के नेतृत्व में आने लगा, विशेष तौर पर गाज़ा में। 2000 के दशक तक आते-आते उसने गाज़ा से फतह को बाहर कर दिया था, वहाँ चुनाव जीते, सरकार बनायी और स्वयं वेस्ट बैंक में उसका प्रभाव तबसे बढ़ता रहा है क्योंकि फ़तह पूरी तरह से इज़रायल के दलाल और टट्टू में तब्दील हो गया है। ऐसे में, क्या जनता लड़ना छोड़ देगी? क्या वह रोज़-रोज़ इज़रायली ज़ायनवादी हत्यारों द्वारा अपने बच्चों, बूढ़ों, जवानों और औरतों के कत्ल पर चुप्पी साध लेगी? क्या वह चुपचाप इज़रायली नस्लभेद की भयंकर अपमानजनक नीति को स्वीकार कर लेगी? कोई जनता ऐसा नहीं कर सकती। फलस्तीनियों ने भी हमेशा घुटनों पर रेंगते हुए जीने के बजाय खड़े होकर लड़ने और मरने का रास्ता चुना है। उन्होंने हमेशा इज़रायलियों को याद दिलाया है कि जब तक फ़िलिस्तीन की मुक्ति नहीं हो जाती तब तक अपनी समूची सैन्य शक्तिमत्ता के बावजूद वे कभी चैन से नहीं जी सकते। जब तक न्याय नहीं होगा, तब तक कोई शान्ति भी नहीं हो सकती। जनता जब तक जीत नहीं जाती, तब तक वह हार भी नहीं मानती है, चाहे उसके संघर्ष की प्रक्रिया लाख ज्वार-भाटे से गुज़रे। पिछले 80 वर्षों से ज़ायनवादी उपनिवेशवाद, आतंकवाद, हत्याकाण्डों, जनसंहारों और फ़िलिस्तीनी विस्थापन के विरुद्ध फ़िलिस्तीनी जनता का संघर्ष इस सच्चाई का ही सबूत पेश करता है।

7 अक्टूबर को गाज़ा से इज़रायल पर हुए अभूतपूर्व हमले को हम फ़िलिस्तीनी जनता के आत्मरक्षा का संघर्ष मानते हैं। बन्दी बनाये गये इज़रायली युद्धबन्दी हैं और मारे गये इज़रायली युद्ध में मारे गये इज़रायली हैं, किसी आतंकी हमले में नहीं, चाहे इस संघर्ष के नेतृत्व में आज कोई भी ताक़त हो। इज़रायल को "आत्मरक्षा" का उतना ही अधिकार है जितना इतालवी फ़ासीवादियों को इतालवी क्रान्तिकारी जनसंघर्ष के खिलाफ था, जर्मन नात्सियों को जर्मनी में जारी जन प्रतिरोध से था, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को भारतीय क्रान्तिकारी धारा के प्रति था। उपनिवेशवादियों, हत्यारों, चोरों, लुटेरों और पश्चिमी साम्राज्यवाद की लठैती करने वाले और नियमित तौर पर फ़िलिस्तीनी जनता का कत्ले-आम करने वाले इज़रायल के "आत्मरक्षा के अधिकार" की बात दुनिया भर के साम्राज्यवादी लुटेरे, अपराधी और हत्यारे ही कर सकते हैं या फिर धुर दक्षिणपंथी और फ़ासीवादी कर सकते हैं। गाज़ा को पूरी दुनिया के न्यायप्रिय लोग दुनिया की सबसे बड़ी जेल मानते हैं और वह यही है। अरब विश्व के पतित बुर्जुआ शासकों की मदद से इज़रायल गाज़ा की जनता को एक लम्बी और धीमी मौत मारना चाहता है और इसी वजह से उसका पूर्ण ब्लॉकेड करके उसे एक जेल में तब्दील करके रखा हुआ है। 7 अक्टूबर को जो हुआ वह एक 'प्रिज़न ब्रेक' है, जिसमें गाज़ा के कैदियों ने इज़रायल द्वारा खड़ी दीवारों और बाड़ेबन्दियों को तोड़कर उन पर हमला किया है। यह समूचे अरब विश्व के शासकों को भी एक सन्देश है कि उनकी समझौतापरस्ती ही उनके अन्त का कारण बनेगी। समूचे अरब विश्व में इस समय जनता फलस्तीनियों के इस संघर्ष के समर्थन में सड़कों पर उतर रही है। वहाँ के शासकों को भी मजबूर होकर कहना पड़ा है कि मौजूदा घटनाक्रम के लिए इज़रायली उपनिवेशवादी ही ज़िम्मेदार हैं। ऐसे बयान न दें, तो उनके घर में ख़ुद ही बग़ावत जैसा माहौल पैदा हो जायेगा।

साम्राज्यवादी मीडिया और भारत के गोदी मीडिया पर भरोसा न करें। वे आपको कभी फ़िलिस्तीन की सच्चाई नहीं बतायेंगे। इतिहास पढ़ें। तभी आप जान पाएँगे कि फ़िलिस्तीन जैसा अन्याय आधुनिक दुनिया के इतिहास में किसी कौम के साथ नहीं हुआ है। इतना दर्द, इतनी तकलीफ़, इतनी मौतें और शहादतें किसी कौम ने नहीं झेली हैं। बच्चों के सबसे भारी ताबूत इतनी संख्या में किसी कौम ने नहीं उठाये हैं। तकलीफ़ की एक ऐसी सरहद होती है जहाँ मौत का डर ख़त्म हो जाता है। समूची फ़िलिस्तीनी कौम दशकों से उस सरहद पर जी रही है। इसलिए उसे कोई हरा नहीं सकता, उसे कोई कुचल नहीं सकता। इज़रायली ज़ायनवादी और अमेरिका-नीत पश्चिमी साम्राज्यवाद कभी चैन से नहीं बैठ सकते। फ़िलिस्तीन की मुक्ति और फ़िलिस्तीन के एक सेक्युलर राज्य का निर्माण ही वह समाधान है, जो इस खून-ख़राबे को ख़त्म कर सकता है। अन्याय के साथ शान्ति की वकालत या तो साम्राज्यवादी करते हैं या मूर्ख लोग जो साम्राज्यवादियों के प्रचार के बहकावे में आ जाते हैं। निश्चय ही, जनता हमेशा शान्ति ही चाहती है और अगर वह युद्ध करती है, तो वह हमेशा आत्मरक्षा और अधिकारों के लिए ही किया जाता है।

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का समर्थन करती है, इज़रायली ज़ायनवादी राज्य को एक सेटलर उपनिवेशवादी राज्य मानती है और एक सेक्युलर फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना का समर्थन करती है जहाँ अरब मुसलमान, यहूदी, ईसाई व अन्य समुदाय के लोग रह सकें। वह इज़रायल के अपॉर्थाइड राज्य का पुरज़ोर विरोध करती है, मोदी सरकार द्वारा भारतीय विदेश नीति को ज़ायनवादी साम्राज्यवाद के पक्ष में खड़ा करने का विरोध करती है और माँग करती है कि फ़िलिस्तीनी जनता की कौमी आज़ादी के समर्थन की नीति को अपनाया जाय और हर रूप में ज़ायनवादियों का विरोध और बहिष्कार किया जाय।

– 'भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी' की ओर से जारी वक्तव्य

कविता

फ़िलिस्तीन

– कात्यायनी

वहाँ जलते हुए धीरज की ताप से गर्म पत्थर
हवा में उड़ते हैं,
पतंगें थकी हुई गौरय्यों की तरह
टूटे घरों के मलबों पर इन्तज़ार करती हैं
वीरान खेतों में नये क़ब्रिस्तान आबाद होते हैं,
और समन्दर अपने किनारों पर
बच्चों को फ़ुटबॉल खेलने आने से रोकता है।
वहाँ हर सपने में ख़ून का एक सैलाब आता है
झुलसे और टूटे पंखों, रक्त सनी लावारिस जूतियों,
धरती पर कटे पड़े जैतून के नौजवान पेड़ों के बीच
अमन के सारे गीत
एक वज़नी पत्थर के नीचे दबे सो रहे होते हैं।
फ़िलिस्तीन की धरती जितनी सिकुड़ती जाती है
प्रतिरोध उतना ही सघन होता जाता है।

जब संगीनों के साये और बारूदी धुएँ के बीच
"अरब वसन्त" की दिशाहीन उम्मीदें
बिखर चुकी होती हैं
तब चन्द दिनों के भीतर पाँच सौ छोटे-छोटे ताबूत
गाज़ा की धरती में बो दिये जाते हैं
और माँएँ दुआ करती हैं कि पुरहौल दिनों से दूर
अमन-चैन की थोड़ी-सी नींद मयस्सर हो बच्चों को
और ताज़ा दम होकर फिर से शोर मचाते
वे उमड़ आयें गलियों में, सड़कों पर
जत्थे बनाकर।

"उत्तर-आधुनिक" समय में ग्लोबल गाँव का जिन्न
दौड़ता है वाशिंगटन से तेल अवीव तक,
डॉलर के जादू से पैदा वहाबी और सलाफ़ी जुनून
इराक़ और सीरिया की सड़कों पर
तबाही का तूफान रचता है।
ढाका में एक फ़ैक्ट्री की इमारत गिरती है
और मलबे में सैकड़ों मज़दूर
ज़िन्दा दफ़्न हो जाते हैं
और उसी समय भारत में एक साथ
कई जगहों से कई हज़ार लोग
दर-बदर कर दिये जाते हैं।
कुछ भी हो सकता है ऐसे समय में।
गुजरात में गाज़ा की एक रात हो सकती है,
अयोध्या में इतिहास के विरुद्ध
एक युद्ध हो सकता है.
युद्ध के दिनों में हिरोशिमा-नागासाकी रचने वाले
शान्ति के दिनों में कई-कई भोपाल रच सकते हैं
और तेल की अमिट प्यास बुझाने के लिए
समूचे मध्य-पूर्व का नया नक्शा खींच सकते हैं।

जब लूट से पैदा हुई ताक़त का जादू
यरुशलम के प्रार्थना-संगीत को
युद्ध गीतों की धुन में बदल रहा होता है,
तब नोबल शान्ति पुरस्कार के तमगे को
ख़ून में डुबोकर पवित्र बनाने का
अनुष्ठान किया जाता है
और मुक्ति के सपनों को शान्ति के लिए
सबसे बड़ा ख़तरा घोषित कर दिया जाता है।
सक्रिय प्रतीक्षा की मद्धम आँच पर
एक उम्मीद सुलगती रहती है कि
तमाम हारी गयी लड़ाइयों की स्मृतियाँ
विद्युत-चुम्बकीय तरंगों में बदलकर
महादेशों-महासागरों को पार करती
हिमालय, माच्चू-पिच्चू और किलिमंजारो के शिखरों से
टकरायेंगी और निर्णायक मुक्ति-युद्ध का सन्देश बन
पूरी दुनिया के दबे-कुचले लोगों की सोयी हुई चेतना पर
अनवरत मेह बनकर बरसने लगेंगी।
इसी समय गोधूलि, जीवन के रहस्यों,
आत्मा के उज्ज्वल दुखों,
आत्मतुष्ट अकेलेपन, स्वर्गिक राग-विरागों,
भाषा के जादू और बिम्बों की आभा में भटकते कविगण
अपनी कविताओं में फिर से प्यार की अबाबीलों,
शान्ति के कबूतरों, झीने पारभासी पर्दों के पीछे से
झाँकते स्वप्नों और अलौकिकता को
आमंत्रित करते हैं और कॉफ़ी पीते हैं,
और बार-बार दस तक गिनती गिनते हैं
और डाकिये का इन्तज़ार करते हैं।

जिस समय विचारक गण भाषा के पर्दे के पीछे
सच्चाइयों का अस्थि-विसर्जन कर रहे होते हैं
इतिहास के काले जल में
और सड़कों पर शोर मचाता, शंख बजाता
एक जुलूस गुज़रता होता है
कहीं सोमनाथ से अयोध्या तक, तो कहीं
बगदाद से त्रिपोली होते हुए दमिश्क और बेरूत तक,
ठीक उसी समय गाज़ा के घायल घण्टाघर का
गजर बजता है
गुज़रे दिनों की स्मृतियाँ अपनी मातमी पोशाकें
उतारने लगती हैं,
माँएँ छोटे-छोटे ताबूतों के सामने बैठ
लोरी गाने लगती हैं
और फ़िलिस्तीन धरती पर आज़ादी की रोशनी फैलाने में
साझीदार बनने के लिए
पूरी दुनिया को सन्देश भेजने में
नये सिरे से जुट जाता है।

(2015)

गाज़ा पर इज़रायली कब्ज़ा मुर्दाबाद! फ़िलिस्तीनी जनता का मुक्ति संघर्ष ज़िन्दाबाद !

(पेज 14 से आगे)

क्योंकि शोषक और उत्पीड़क वर्ग जोकि मेहनतकश जनता पर राज करते हैं, हमेशा जनता को बाँटने के हथियारों की तलाश में रहते हैं, जनता के बीच अन्धराष्ट्रवादी लहर को हवा देते हैं और किसी ऐसी क्रान्तिकारी राजनीतिक नेतृत्व की अनुपस्थिति में जनता भी ऐसी अन्धराष्ट्रवादी साज़िश का शिकार बनती है। इसके अतिरिक्त आज जर्मन नात्सी और ज़ायनवादियों के बीच गठजोड़ के पुख़्ता सबूत मौजूद है। वे एक दूसरे के विपरीत नहीं बल्कि अन्धराष्ट्रवाद और नस्लवाद के दो विभिन्न प्रजातियों के रूप में एक दूसरे के पूरक हैं। "यहूदियों के लिए पितृभूमि" होने के इस तर्क को ख़ुद दुनियाभर के यहूदियों की एक अच्छी ख़ासी आबादी ने ख़ारिज किया है, जिन्होंने इस तर्क का खण्डन किया है कि यहूदी समुदाय कोई राष्ट्र है जिन्हें एक राष्ट्र-राज्य की ज़रूरत हो। वे साफ़ तौर पर यह कहते हैं कि वे एक धार्मिक समुदाय हैं ना कि राष्ट्रीय समुदाय, हालाँकि कुछ देशों में वे एक राष्ट्रीय अल्पसंख्यक के रूप में मौजूद हैं और उन अधिकारों के हकदार हैं जोकि राष्ट्रीय अल्पसंख्यक के नाते किसी को मिलना चाहिये। पोलिश भूमि पर चीर काल से रह रहे पोलिश यहूदियों की पितृभूमि पोलैण्ड है। और यही बात रुसी , यूक्रेनी, फ्रांसिसी और ब्रिटिश यहूदियों पर भी लागू होती है। अगर आप पृथक यहूदी राष्ट्र-राज्य के निर्माण की माँग के इतिहास को देखेंगे तो पायेंगे कि यह 19वीं सदी के अन्त का उत्पाद है, जोकि बड़ी पूँजी और साम्राज्यवादियों द्वारा वित्तपोषित अन्धराष्ट्रवादी नस्लवादी विचारधारा और ज़ायनवादी राजनीति का परिणाम है।

कोई भी व्यक्ति जिसमें न्याय, बराबरी और निष्पक्षता की थोड़ी भी भावना है, वह स्वस्थ मन से इज़रायली सेटलर उपनिवेशवादी राज्य का समर्थन नहीं कर सकता! हम सभी जानते हैं कि इस मसले का केवल एक ही समाधान है- फ़िलिस्तीन का एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में स्थापित होना जहाँ मुस्लिम, यहूदी और ईसाई एक साथ रह सकें। हमास का उद्देश्य ऐसे किसी धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है या नहीं, यह इज़रायली सेटलर्स द्वारा औपनिवेशिक गुलामी और नस्लवादी रंगभेद का विरोध करने के फिलिस्तीनियों के अधिकार का आधार नहीं बन सकता है; अपने नेतृत्व का चुनाव करने का अधिकार फिलिस्तीनियों का अपना अधिकार है और सच तो यह है कि हमास इज़रायल के ख़ात्मे या यहूदियों के क़त्लेआम की बात नहीं कर रहा, आप ख़ुद इसे देख सकते हैं! वो 1967 के दौर में मौजूद सीमाओं को वापस बहाल करने की माँग कर रहा है, द्वि-राज्य समाधान की बात कर रहा है और नये सेटलर उपनिवेश पर रोक और 100000 गाज़ाई बन्दियों के रिहाई की माँग कर रहा है। तात्कालिक रूप से वे गाज़ा की घेरेबन्दी को ख़त्म करने की माँग उठा रहे हैं जोकि बुर्जुआ अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के मानक से भी एक बिलकुल जायज़ मांग है। इसमें कोई शक नहीं है कि हमास एक इस्लामिक संगठन है और हम किसी प्रकार के धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन, चाहे वह किसी भी रंग का हो, का समर्थन नहीं कर सकते। हालाँकि हमास का विचारधारात्मक रूप से विरोध करना इज़रायली सेटलर औपनिवेशिक कब्ज़े के ख़िलाफ़ फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का विरोध करना नहीं है! तो हमारे भारतीय निवासियों जाग जाओ! इज़रायली सेटलर उपनिवेशवादियों के विरुद्ध चल रहे फ़िलिस्तीनी जनता के मुक्ति संघर्ष का समर्थन करो! पश्चिमी साम्राज्यवादी मीडिया और गोदी मीडिया के प्रचार से छुटकारा पाओ ! इज़रायल और फ़िलिस्तीन के इतिहास का अध्ययन करो और फ़िलिस्तीनी जनता के साथ हुए इस ऐतिहासिक अन्याय को समझो!

— 'फ़िलिस्तीन के साथ एकजुट भारतीय जन' (Indian People in Solidarity With Palestine) की ओर से जारी वक्तव्य

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2023-2026
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

महिला आरक्षण बिल पर सर्वहारावर्गीय नज़रिया क्या हो?

● प्रियम्वदा

मोदी सरकार के बाकी जुमलों की तरह महिला आरक्षण बिल के जुमले की भी सच्चाई इसके आते के साथ ही खुल गयी। इस बिल का समर्थन करने वाले तमाम बुर्जुआ चुनावबाज़ राजनीतिक दलों की बुर्जुआ औरतों और खाते-पीते मध्यवर्ग से आने वाली महिलाओं के लिए भी यह फुसफुसा पटाका साबित हुआ। ज़ोरदार शोर-शराबे के साथ संसद के विशेष सत्र में इस बिल को लाया गया था और जमकर धुन्ध फैलायी गयी। परन्तु तब यह धुन्ध छटी तो यह बात सामने आयी कि इसे अगली जनगणना और फिर नये परिसीमन के बाद लागू किया जाएगा! **सवाल यह उठता है कि अगर यह आरक्षण तत्काल लागू नहीं होने वाला था तो सरकार ने विशेष संसद सत्र बुलाकर इतने आनन-फ़ानन में इसका प्रस्ताव क्यों रखा?** इस सवाल के जवाब पर हम आगे बात करेंगे पर उससे पहले अगर यह देखें कि नयी जनगणना और परिसीमन का काम कब तक किया जाना है तो यह जानकर आपको काफ़ी हैरानी होगी। हमें और आपको तो केवल हैरानी ही होगी परन्तु बुर्जआ महिलाओं, तमाम नारीवादियों और अस्मितावादियों के लिए यह ऐसा लड्डू साबित हुआ जो हाथ तो आया पर मुँह न लगा!

भारत में आख़िरी बार वर्ष 2011 में जनगणना हुई थी। हर दस साल में ये प्रक्रिया होती है लेकिन 2021 में जनगणना नहीं हुई। अगली जनगणना कब होगी, इसको लेकर भी अनिश्चतता है। लेकिन अगर 2031 में जनगणना होती है तो इसके आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन और विस्तार किया जायेगा। बुर्जुआ राजनीतिक विश्लेषकों का कहना है कि इस आरक्षण को वास्तविकता बनने में एक दशक से अधिक समय लगेगा। उनके अनुसार संविधान के अनुच्छेद 82 (2001 में संशोधित) के अनुसार, 2026 तक जनगणना के पहले आँकड़े आने से पूर्व परिसीमन नहीं कराया जा सकता है। यह जनगणना 2031 तक ही हो सकेगी। परिसीमन आयोग को अपनी फ़ाइनल रिपोर्ट देने में कम से कम 3 से 4 साल का समय लगता है और पिछले आयोग ने तो 5 साल में रिपोर्ट दी थी। दूसरा यह कि आबादी की दर में बदलाव को देखते हुए अगला परिसीमन विवादित हो सकता है। इस बात की सम्भावना पूरी है कि वर्ष 2037 के आसपास परिसीमन की रिपोर्ट मिलेगी और इसे 2039 तक लागू किया जा सकेगा।

यानी यह तो स्पष्ट है कि इस बिल को मोदी सरकार इतनी हड़बड़ी में इसलिए नहीं लेकर आयी है क्योंकि उसे महिलाओं के हितों की चिन्ता है! उसे बस इसके बूते औरतों के वोट चाहिए। इसके साथ ही जो लोग भी मोदी सरकार के इस कदम को लेकर वाहवाही के गुब्बारे फुला रहे थे उसकी हवा निकलते देर नहीं लगी और अब इस मसले पर इस बिल के समर्थक (सरकारी व गैर-सरकारी) भोंपूओं की घिग्घी बँधी हुई है! क्योंकि सबको पता चल चुका है कि यह बिल एक ऐसा बिल है, जो लागू होना ही नहीं है!

2014 में 'महिला सशक्तीकरण' और 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ' के नारे के साथ आयी इस सरकार के 9 साल के कार्यकाल में स्त्रियों के हालात बद से बदतर हुए हैं। यह किसी से छिपा नहीं है। महिलाओं के लिए दुनिया के असुरक्षित देशों की सूची में भारत ने अव्वल स्थान प्राप्त कर लिया है! वहीं दूसरी तरफ बृजभूषण शरण सिंह सरीखे गुण्डे और पतित तत्वों ने इस देश की स्त्रियों के बीच भाजपाइयों के चाल-चरित्र-चेहरे को भी शीशे की तरह साफ़ कर दिया है। इस दौरान स्त्रियों के शोषण-दमन-उत्पीड़न में देश ने जो तरक़्क़ी हासिल की है वह अभूतपूर्व है। उन्नाव, कठुआ, हाथरस, बिल्किस बानो से लेकर मणिपुर तक की घटनाएँ इस दौर की वीभत्सता को बयान करती हैं।

संघ और भाजपा के लोग औरतों को बच्चे पैदा करने की मशीन और पुरुषों के पैरों की जूती समझते हैं और समाज में इस मानसिकता को खाद-पानी देने का काम करते हैं। नवउदारीकरण के बाद, नव-धनाढ्यों की "खाओ-पियो-ऐश करो" की संस्कृति, जो औरतों को केवल उपभोग और विनमय की वस्तु के रूप में एक माल की तरह देखती है, के चलते स्त्री-विरोधी अपराधों में भयानक तेज़ी आयी है जो आज फ़ासीवाद के दौर में आँधी में तब्दील हो गयी है। **स्त्रियों की ग़ुलामी को जायज़ ठहराने वाली यह फ़ासीवादी सरकार महिला आरक्षण बिल के ज़रिये एक बार फिर महिलाओं की हितैषी बनने का दावा कर रही है ताकि 2024 के लोकसभा चुनावों में वोट बटोरे जा सकें। महिला आरक्षण बिल के पीछे इनकी असल मंशा आने वाले चुनाव के तैयारी है।**

विधेयक में कहा गया है कि लोकसभा, राज्यों की विधानसभाओं और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली की विधानसभा में एक तिहाई सीटें महिलाओं के लिए आरक्षित होंगी। **इसमें पहला सवाल यह उठता है कि संसद और विधानसभा में महिलाओं के आरक्षण मिलने से क्या बदलेगा? क्या इससे महिलाओं की तरक़्क़ी और आज़ादी सुनिश्चित होगी?** उदाहरण के लिए अगर हम उन स्वशासित निकायों को देखें जहाँ महिला आरक्षण लागू हो चुका है तो हम पाते हैं कि उन पदों पर भी महिलाओं का होना प्रतीकात्मक ही साबित हुआ है। भले ही महिलाएँ प्रधान या पार्षद के तौर पर चुन ली जायें पर सभी फ़ैसले लेने का काम प्रधान पति/पिता और पार्षद पति/पिता ही करते हैं! अगर एक मिनट के लिए यह भी मान लें कि चुन के आने के बाद स्त्री ख़ुद भी निर्णय लेती है तब भी जो औरतें ख़ुद राजनीतिक तौर पर पूँजीपति वर्ग की नुमाइन्दगी करती हैं, वे जनता के हक़ में कोई फ़ैसला कैसे ले सकती हैं? क्या आपको स्मृति ईरानी, मीनाक्षी लेखी, ममता बनर्जी जैसी पूँजीवादी नेताओं से जनता के हक़ में कुछ किये जाने की उम्मीद है? इनकी सच्चाई क्या पिछले कई वर्षों में आपने देखी नहीं है?

इसलिए इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता है कि शासन करने वाला स्त्री है या पुरुष! एक पितृसत्तात्मक समाज में औरतों की ग़ुलामी का ख़ात्मा अस्मितावाद का खेल खेलने वाले ऐसे कुछ क़ानूनों के ज़रिये नहीं किया जा सकता है। जो लोग यह सोचते हैं कि समाज के पोर-पोर में बैठी पुरुष वर्चस्ववाद की मानसिकता को कुछ नियम-क़ायदे बनाकर ख़त्म किया जा सकता है वे लोग ना तो इतिहास की गति को समझते हैं और ना ही इस व्यवस्था के काम करने के तौर-तरीक़े को। कोई भी परिवर्तन "महान या ईमानदार सरकारों" द्वारा ऊपर से लाये गये क़ानून पास करके नहीं किये जा सकते हैं जैसा के अम्बेडकरवादियों और कई अस्मितावादियों को लगता है। इतिहास में होने वाला कोई भी आमूलगामी परिवर्तन जनता के एकजुट संघर्ष के दम पर ही सम्भव होता है। पितृसत्ता वर्ग और निजी सम्पत्ति के साथ अस्तित्व में आयी थी और उस पर असल चोट करने का काम वर्ग शोषण व उत्पीड़न तथा निजी सम्पत्ति और निजी मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष के ज़रिये ही हो सकता है, स्त्रियों के लिए शासनकारी निकायों में 33 प्रतिशत आरक्षण या 50 प्रतिशत आरक्षण के ज़रिये नहीं।

दूसरा सवाल यह कि भविष्य में अगर यह बिल लागू भी हो जाता है तो इससे किन महिलाओं के हितों की पूर्ति होगी?

महिला आरक्षण बिल से भले ही कुछ महिलाएँ संसद-विधानसभा के निकायों में पहुँच जायें पर असल में आम औरतों की ज़िन्दगी में इससे कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है।

एक वर्ग-विभाजित समाज में अलग-अलग वर्गों से आने वाली स्त्रियों के हित कभी एक नहीं हो सकते। हम देख चुके हैं कि स्त्रियों के साथ होने वाले भयंकर अपराधों तक के मामले में शासक वर्ग से आने वाली स्त्रियों और उनकी चाटुकारी करने वाले स्त्रियों के तबके ने अपना मुँह कभी खोला हो! सिर्फ़ औरत होना ही अपने आप में प्रगतिशील होना नहीं है जो कई अस्मितावादियों को लगता है। पूँजीवादी पितृसत्तात्मक समाज में शासक वर्ग से आने वाली औरतें अपने ही वर्ग हितों की रक्षा करती हैं और उन्हीं पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं को स्थापित करने का काम करती हैं जो स्त्रियों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाती हैं। स्मृति ईरानी, मीनाक्षी लेखी, सुषमा स्वराज या मायावती जैसी महिलाओं और देश के फैक्ट्रियों-कारख़ानों में काम करने वाली मज़दूर औरतों की कौन सी माँगें साझा हैं? गोल्डा मेयर, मारग्रेट थैचर या कोंडोलीज़ा राइस जैसी हत्यारी साम्राज्यवादियों और इन्दिरा गाँधी सरीखी स्त्रियों ने ही इतिहास में बुर्जुआ वर्ग के राज्य के शीर्ष पर बैठकर सबसे घनघोर प्रतिक्रियावादी कदमों को लागू किया है। बिलकुल साफ़ है कि राजनीतिक तौर पर खाते-पीते मध्यवर्ग या हुक्मरानों के साथ खड़ी महिलाओं और सामाजिक वर्ग के तौर पर मज़दूर पृष्ठभूमि से आने वाली महिलाओं के न तो हित एक हैं और ना ही कोई माँगें साझा हैं बल्कि एक-दूसरे के विरोध में खड़ी हैं। एक के लिए जो अमृत है दूसरे के लिए वह विष है! **इसलिए, इस बिल को भी हमें वर्गीय नज़रिये से देखना होगा। वर्ग निरपेक्ष नज़रिया अपनाकर हम स्त्रियों की आज़ादी के प्रश्न को उठा ही नहीं सकते क्योंकि स्त्रियों का तबका एक वर्ग समाज में एकाश्मी तबका हो ही नहीं सकता!**

मज़दूर-मेहनतकश पृष्ठभूमि से आने वाली महिलाओं के लिए महिला आरक्षण बिल का मुद्दा एक ग़ैर-ज़रूरी और महत्वहीन मुद्दा है। उन्हें इस बात से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि संसद-विधानसभा में बैठकर उनके लूट और शोषण की नीतियाँ बनाने वालों में कितनी स्त्रियाँ हैं और कितने पुरुष, कितने दलित हैं और कितने सवर्ण, आदि! पूँजीवादी लूट-खसोट, बर्बरता और पितृसत्तात्मक वर्चस्व को लागू करने में वे स्त्रियाँ भी उतनी ही साझीदार हैं जिनका हित शासक वर्ग के साथ जुड़ा है। इस मुल्क को असल में चलाने वाली मेहनतकश महिलाओं को इससे क्या फ़र्क़ पड़ेगा कि उनका शोषण करने वाली जमात 100 फ़ीसदी पुरुषों की है या फिर 67 फ़ीसदी पुरुषों और 33 फ़ीसदी स्त्रियों की? उनको फ़र्क़ केवल और केवल तब पड़ सकता है जब पूँजीवादी शोषणकारी व्यवस्था नष्ट हो। स्त्रियों को ग़ुलाम समझने की मानसिकता पूँजीवादी व्यवस्था से नाभिनालबद्ध है। पूँजीवाद ने समाज के पोर-पोर में पैठी पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं को सहयोजित कर लिया है जिससे स्त्रियों के उत्पीड़न को वैध और उचित ठहराने के लिए आधार हासिल हो जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था में पितृसत्ता सामाजिक उत्पीड़न का एक अहम रूप है जिसका दंश ख़ास तौर पर स्त्रियों और बच्चों को झेलना पड़ता है। पितृसत्तात्मक मानसिकता के ख़ात्मे और स्त्रियों की मुक्ति के बिना जन-मुक्ति का कोई भी संघर्ष सम्भव नहीं है।

सवाल इस पितृसत्तात्मक पूँजीवादी शोषण के व्यवस्था के ख़ात्मे का है। तभी जाकर सही मायने में आधी आबादी की मुक्ति सम्भव हो सकती है और इसके लिए लड़े जाने वाले संघर्ष में वर्ग आधारित एकता क़ायम किये जाने की ज़रूरत है, महिला आरक्षण जैसे जुमलों के पीछे भागने की नहीं।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 263, हरिभजन नगर, शहीद भगतसिंह वार्ड, तकरोही, इन्दिरानगर, लखनऊ- 226016